

श्रीवीतरागाय नमः ।

षट् द्रव्यकी आवश्यक्ता व सिद्धि और जैन साहित्यका महत्व ।

लखनऊकी महासभामें जैन साहित्य सभाके लिये

लेखक —

श्रीमान् प० मथुरादासजी–बनारस, प० अजितकुमारजी शास्त्री,
प० बुद्धिलालजी श्रावक, प० बनवारीलालजी स्याद्वादी,
और व्याकरणरत्न प० सतीशचन्द्रजी न्यायतीर्थ–काशी ।

प्रकाशक —

मूलचन्द किसनदास कापडिया,
मालिक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय–चन्दावाडी–सूरत ।

"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस–सूरतमें मूलचन्द किसनदास कापडियाने मुद्रित किया ।

विक्रम सं० १९८४] वीर सं० २४५३ [ई० सन् १९२७

मूल्य–एक रुपया ।

निवेदन।

हमारी भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभाका २६ वां वार्षिक अधिवेशन वीर सं० २४४८ (ई० सन् १९२२) में लखनऊमें श्रीमान् विद्यावारिधि दर्शनदिवाकर बेरिस्टर चंपतरायजीके सभापतित्वमें अतीव उत्साह व समारोहके साथ जगतजननीके रथोत्सवके मौकेपर हुआ था तब श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर ब्र० सीतलप्रसादजीकी प्रेरणासे, लखनऊके धर्मपरायण दि० जैन समाजने उस समय एक जैन साहित्यसभा करनेका व उसमें हमारे विद्वानोंके इस ग्रन्थमें वर्णित दो विषयोंपर इनामी लेख मंगाकर उत्तम लेखकोंको २००)का इनाम देनेकी योजना की थी जिससे पर द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि पर तीन तथा जैन साहित्यके महत्वपर तीन ऐसे ६ लेख प्राप्त हुए थे जो वहांकी सभामें पढ़े गये थे तथा जिनकी परीक्षा श्रीमान् विद्वद्वर्य पं० माणिकचंदजी न्यायाचार्य (मोरैना) द्वारा हुई थी, वे सब लेख पूज्य ब्र० सीतलप्रसादजीकी सूचनानुसार हमने हमारे "दिगंबर जैन" मासिक पत्रमें क्रमशः प्रकट कर दिये थे तथा इनको पुस्तकाकार भी प्रकट करनेकी चारों ओरसे हमें सूचनायें मिली थीं इसलिये उन लेखोंका यह संग्रहीत ग्रंथ प्रकट किया जाता है। आशा है कि इसके प्रकाशनसे पर द्रव्य व जैन साहित्यके विषयमें विशेष प्रकाश पड़ेगा तथा विद्यार्थियोंके लिये तो ये निबंध बहुत ही लाभदायक होंगे।

दि० जैन समाजके अद्वितीय विद्वान् श्रीमान् पं० माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य (वर्तमानमें प्रधानाध्यापक, जंबू विद्यालय–सहारनपुर)ने इस अवसर विस्तृत प्रस्तावना भी लिख दी है (जो "दिगम्बर जैन" वर्ष १६ अंक ६ में भी प्रकट होचुकी है) जिसके लिये आपके हम बड़े आभारी हैं।

कागजकी अतीव महंगीके समयमें यह ग्रन्थ 'दिगंबर जैन' के साथ २ छपता गया था इसलिये इसमें कागज हलके लगाये गये हैं जो हमें भी खटकता है। तथा अनेक कारणोंसे इसका प्रकाशन भी अतीव देरीसे होसका है इसके लिये पाठक हमें उपालंभ न देंगे ऐसी उम्मेद है।

सूरत।
वीर सं० २४५१
आषाढ़ सुदी ११

निवेदक–
मूलचंद किसनदास कापड़िया,
प्रकाशक।



जैन साहित्यसभा-लखनऊके प्रकट हुए लेखोंपर श्रीमान् जैनतर्कभूषण-
प० माणिकचंदजी न्यायाचार्य मोरेना द्वारा लिखित-

प्रस्तावना ।

प्रिय महानुभावों !

पहिले इसके कि मैं छह द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि तथा जैन साहित्यकी महत्ताका दिग्दर्शन आपको कराऊं यह बतला देना उचित समझता हूं कि वन्दनीय ब्र० शीतलप्रसादजी व लखनऊ जनताका लेख लिखानेका कार्य कितना प्रशंसनीय है । भारतमें लेख लिखकर राजा सेठ या पब्लिकमें भेजनेकी प्रथा कुछ नवीन नहीं है लेकिन यह प्रथा जितनी पहिले प्रतिष्ठाप्राप्त थी उतनी इस समय नहीं देखी जाती, चाहे तो इसमें लेखकोंका आलस्य ही कारण हो या राजा व सेठोंकी सुननेमें अप्रियता, लेकिन मेरी धारणा तो यह है कि इस विषयमें कुछ कुछ दोनों ही तरफसे त्रुटि की गई है ।

कुछ ही समय पहिले राजा भोज, बादशाह अकबरकी सभामें **यति हीरविजय, प० कालिदास** प्रभृति कितने ही विद्वान् प्रतिदिन शिक्षा पूर्ण नवीन२ श्लोक बनाकर लेजाते थे इसके उपलक्षमें बादशाह भी उन्हें बहुत आदरकी दृष्टिसे देखते थे तथा उनके उत्साह बढ़ानार्थ बहुतसा इनाम भी देते थे । सब शिक्षित समाजको यह विदित होगा कि **राजा भोजकी** सभामें कितने ही विद्वान् रहते थे । एक विद्वान प्रतिदिन राजाके यहां नवीन २ श्लोक बनाकर लाया करते थे लेकिन महाराज भोजकी सभामें इतने बुद्धिशाली आदमी थे कि वे जिस श्लोकको एकबार सुन लेते थे वह उन्हें कण्ठस्थ हो जाता था, दूसरे दो दफे तीन दफे आदि सुनने मात्रसे उसकी पूर्ण धारणा कर लेते थे अत प्रति दिन नवीन पण्डित महाशय जो नवीन२ श्लोक बनाकर लाते थे सभाके स्थायी अन्य पण्डित उसे उसी समय राजाको सुनाकर कहते थे कि महाराज, यह प्राचीन श्लोक है नवीन नहीं । एक दिन उस नवीन पण्डितने इस भावपूर्ण श्लोक बनाया कि महाराजके पितामहसे मेरे पिताको इनाम दिया गया एक लक्ष रुपया महाराजके खजानेमें जमा है । इस प्रकारके नवीन श्लोकको सुनकर अन्य सभी पण्डित बहुत पशोपेशमें पड़े कि इनके इस श्लोकको प्राचीन ही बताना चाहिये या नवीन । नवीन बतलानेसे तो नवीन श्लोकके बना नेके कारण इनको एकलक्ष रुपया इनामका मिल ही जायगा, और प्राचीन बतानेसे भी यह बात प्रमाणित हो जायगी कि इनका एक लक्ष रुपया राजकोषमें जमा है, इत्यादि, कथाओंके सुननेसे यह विदित होता है कि पहिले श्लोक आदि लिखकर राजसभामें सुना नेका बहुत प्रचार था । अब भी कुछ व्यूनताको लिए हुए यह प्रथा प्रचलित है ।

अमेरिका जमन आदि अन्य देशोंमें नवीन लेख भेजनेकी प्रथा अब भी पायी जाती है और तत्रत्य विद्वान् उन लेखोंको देखकर नौबिल प्राइज, पी० एच० डी० आदिकी पदवियोंसे अलंकृत करके सम्मानित करते थे।

पूर्वमें आचार्यों बडे २ विद्वानोंको वादीभसिंह, पूज्यपाद आदि पदवियां वितरित करके उनका गौरव बढाया जाता था, उस पूर्व प्रथाका कुछ अनुकरण करते हुए ब्र० शीतलप्रसादजी तथा लखनऊकी जनताने षट् द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि, तथा जैन साहित्यका महत्व इन दो विषयोंपर लेख लिखकर जैन साहित्य सभा लखनऊमें भेजनेकी सूचना "जैनमित्र" आदिमें प्रकाशित की थी।

उक्त दो निबन्धोंपर भिन्न २ स्थानीय विद्वानोंके ६ लेख आये जो कि "दिगम्बर जैन" मासिक पत्रमें क्रमशः छप चुके हैं और पुस्तक रूपमें भी छपाये गये हैं। पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी व लखनऊ जनताको उक्त दो निबन्धोंपर लेख लिखवाकर न सिर्फ इन विषयोंको उन्नत करनेका यशोलाभ हुआ है बल्कि विद्वानोंका गौरव बनाकर जैन समाजमें भी अन्य समाजोंकी तरह लेख लिखनेकी प्रथा या यों कहिये कि प्राचीन प्रथाका जीर्णोद्धार किया है।

जैन समाजमें इस प्रथाका अभाव कुछ अधिक दिन पहिलेसे ज्ञात होता है नहीं तो इतने अधिक विद्वानोंकी उपस्थितिमें इन महत्वपूर्ण विषयोंपर केवल छह ही लेख न आते। इसमें हम सर्वथा लेखकोंका ही प्रमाद नहीं कहते बल्कि कुछ समाजके नेताओंका भी है। मुझे आशा है कि अबसे ऐसे शास्त्रीय निबन्धों पर यदि समाजकी दृष्टि रहेगी तो पुनः लेख लिखाये जानेपर इसकी संख्यासे कहीं बहुत अधिक संख्यामें विद्वानोंके लेख आसकगे और उपाधि आदि देनेकी पूर्व प्रथाका भी समाजने यदि अनुकरण किया तो इस कार्यका बहुत महत्व हो जायगा और उस समय न सिर्फ जैन विद्वान ही बल्कि निष्पक्षपाती अन्य जातीय विद्वान् भी इन विषयोंपर निबन्ध लिखेंगे और इस तरह जैन धर्मका एक सुलभ रीतिसे दूर २ प्रदेशोंमें प्रचार हो जायगा, हमारी समझमें इस कार्यका पूर्ण प्रशंसालाभ ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी व लखनऊकी जैन जनताको है। आशा है कि अगाडी भी इस प्रथाका अनुकरण किया जायगा।

* * *

सज्जनो! **षटद्रव्यकी आवश्यकताके** विषयमें तीन लेख समुपलब्ध हुए हैं और उन लेखोंसे पूर्णतः यह बात स्पष्ट हो गई है कि द्रव्य छह ही हैं न सात और न पांच, द्रव्योंकी संख्या ६ ही है। इस विषयमें विशेष कुछ कहना नहीं है क्योंकि अन्य मत कल्पित द्रव्य व पदार्थोंकी संख्या इन्हीं ६में अन्तर्भूत हो जाती है। यहां द्रव्य पदार्थ

इनका पृथक् उल्लेख इसलिए किया है कि वैशेषिक द्रव्यकी संख्या ९ और पदार्थकी संख्या ७ मानता है। पदार्थ इस शब्दका तात्पर्य उन्होंने इस प्रकार माना है—पदस्य अर्थ पदार्थ। यहां षष्टीका अर्थ निरूपित है। ऋ धातुका अर्थ ज्ञान और थन् प्रत्ययका अर्थ विषयत्व है। इस प्रकार पद निरूपित ज्ञान विषयत्व ही पदार्थका तात्पर्य माना है। यहां जो ऐसी शका करते है कि पदार्थका अर्थ जब पद निरूपित ज्ञान विषयत्व है तब ही खर विषाण भी पदार्थ कोटिमें आना चाहिये क्योंकि यह निरूपित ज्ञानविषयता तो इसकी भी होती है। इसका समाधान वे इस प्रकार करते है। हां खरविषाण भी पदार्थ है लेकिन वह अत्यन्ताभाव पदार्थमें सन्निविष्ट है। अस्तु यहां इस परवादकी आवश्यकता नहीं है।

जिस प्रकार द्रव्यकी सख्या ६से अधिक सात नहीं हो सकती उसी प्रकार ६से कम ५ भी नहीं हो सकती है। द्रव्यकी जीव, अजीव रूप दोकी संख्या जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालका सूक्ष्म रूपान्तर है क्योंकि जीवसे भिन्न पुद्गलादि ५ का अजीवमें अन्तर्भाव है।

जीव व पुद्गलकी सत्ता हमें प्रत्यक्षतः विदित हो रही है, बाकीकी ४ द्रव्य यानी धर्म, अधर्म, आकाश, कालकी सत्ताका अवधारण अनुमानादि प्रमाणोंसे होता है। ६ छहों द्रव्योंका कार्य हम अपने शरीरमें भलीभांति देखते है।

जीवका ज्ञानगुण तथा पुद्गलका रूपादि सजीव शरीरमें दिखलाई देता ही है। धर्म द्रव्यका जीव पुद्गलोंके गमन होनेमें सहकारी रूप जो कार्य है वह रक्तादिके गमनमें सहकारी होनेसे अच्छी तरह प्रमाणित होता है एव अधर्म द्रव्यकी जो उक्त दो द्रव्योंके स्थिर होनेमें सहकारिता है वह भी शरीरमें पायी ही जाती है क्योंकि सजीव शरीरमें रक्तादिका निरन्तर चलते रहना जैसे उपयुक्त है उसी प्रकार शरीरके कुछ ऐसे अवयव भी है जो कि शरीरमें स्थिर ही रहते है और उनके चलित होनेसे आदमीकी मृत्यु हो जाती है अतः अधर्म द्रव्यका कार्य भी शरीरमें बराबर देखा जाता है। आकाशका अवगाह देना जो कार्य है वह भी शरीरमें सुस्पष्ट ही है, कांटे, तिनके, कांच, खानेपीने आदिकी कितनी ही चीजे है जिनको कि शरीर अवगाह देता है। कालका कार्य वर्तना भी आप अच्छी तरह शरीरमें पावेंगे क्योंकि भोजनादिकी वर्तना या परिणमन निरन्तर शरीरमें होता ही रहता है, इस प्रकार छहों द्रव्योंका कार्य शरीरके अन्दर देखनेमें आता है।

साहित्यके विषयमें यही कहना है कि सर्वत श्रेष्ठ साहित्य वही है जो आत्माको अन्तमें वैराग्यकी तरफ उन्मुख करे। पहिले जमानेमें यति, साधु मन्त्रोंसे स्तुति करते थे। उन मन्त्रोंमें जो शक्ति है वह सस्कृत साहित्यमें नहीं है। मन्त्रका शुद्ध उच्चारण

करना बहुत कठिन है। ह्रस्व उदात्त अनुदात्त आदि सब प्रकारका ख्याल करके उच्चारित जो मन्त्र है वही अपना कार्य पूर्णत सिद्ध करता है क्योंकि "नहि मन्त्रो क्षर न्यूनो निहन्ति विधिवेदनाम्" मन्त्रके शुद्ध उच्चारण न कर से न केवल आदमी अपने साध्यसे भ्रष्ट ही होता है किंतु अपना अनिष्ट भी कर लेता है।

इस प्रकार मन्त्रके उच्चारण तथा साधनाकी दुष्पतासे बचनेके कारण संस्कृत साहित्यका प्रचार हुआ। संस्कृत साहित्यमें भी भांति २ की असुविधाय देखकर साधारण जनताके आनन्दार्थ हिन्दी साहित्यका आरम्भ हुआ। जिन मन्त्रोंको शुद्धाशुद्धका विचार रखते हुए हम केवल एक घंटे बोल सकते हैं। यदि उसके स्थानमें संस्कृतकी कोई गद्य या पद्य हो तो हम २ घंटे बोलकर हम थक जाते हैं उतनी ही हिन्दीकी गद्य या पद्य हम बराबर ६ घंटे बोल सकते हैं। गाना तो और भी अधिक समय तक गा सकते हैं। आप देखेंगे कि हिन्दी गायक बराबर आठ २ दश २ घंटे एक जगह बैठकर अच्छी तरह गा सकते हैं। यदि गायकसे संस्कृतके बारेमें कहा जाय कि तुम ४ घंटे बराबर बैठकर गाओ तो वह किसी हालतमें नहीं गा सकता क्योंकि हिन्दीकी अपेक्षा संस्कृतका उच्चारण बहुत परिश्रम युक्त है और मन्त्रका उच्चारण उससे भी बहुत कुछ परिश्रमपूर्ण है।

इससे विदित होता है कि मन्त्रके साहित्यमें अड़चन देखकर ही संस्कृत साहित्य और जो स्व स्वल्पशक्तिके कारण संस्कृत साहित्यसे लाभ नहीं उठा सकते उनके लिए हिंदी साहित्यका निर्माण किया गया है।

बहुतसे महाशय काव्यके ग्रंथोंको ही साहित्यकोटिमें परिगणित करते हैं लेकिन यह उनकी भूल है। बहुतसे सिद्धांत न्यायके ग्रंथ भी पूर्णत साहित्यकी उत्पत्तिके परिदर्शक हैं। साहित्यका कार्य मनोरञ्जन करना है और यह मैं पहिले ही कह चुका हूं कि श्रेष्ठ साहित्य ग्रंथ वही कहा जा सकता है जो संसारकी अवस्थाका दर्शन कराकर अंतमें मोक्षके लिए आत्माके परिणामोंको ऋजु करे। साहित्य आत्माका एक रस है यानी श्रेष्ठ साहित्यको पाकर आत्मा अपने भूले हुए स्वरूपको पुन प्राप्त कर लेती है। सिद्धांतका ग्रंथ गोमट्टसार साहित्यसे खाली नहीं है उसी प्रकार न्यायका ग्रंथ अष्टसहस्री भी साहित्योन्नत ग्रंथोंमें एक प्रधान ग्रंथ है अष्टसहस्री पढ़े हुए महाशय इस बातको भली भांति जानते होंगे कि अष्टसहस्रीके कर्ता महोदयने ३६३ मतोंका किस खूबीसे खण्डन किया है। अष्टसहस्री पढ़कर जीव अपनी आत्माका स्वरूप भली भांति जान लेता है जो कि साहित्यका आशय कार्य है। अष्टसहस्रीके कर्ताने स्वयं लिखा है—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।
विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥

अर्थात् अष्टमी सहस्रीके पढ लेनेपर अन्य सेकड़ों ग्रंथोंके पढ़नेसे क्या लाभ है यानी कुछ भी लाभ नहीं है इसीके श्रवणसे स्व तथा पर समय (शास्त्र) अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार स्वयम्भूस्तोत्र, समयसार आदि ग्रंथ भी साहित्योन्नतिके अच्छे दर्शक है। समयसारके कर्त्ताने आत्माकी अद्वैत सिद्धिमें जो आत्मात्मन-मात्मनात्मनेऽऽत्मनरात्मनि चेतयते-यह षकारक लगाये है। यह भी उच्चकोटिका साहित्य ही है क्योंकि यही आत्माके प्रत्यक्ष करनेका उपाय है।

तुलसीदासजी कृत रामायण जो कि साहित्योन्नतिका एक निदर्शक कहा जाता है उससे आप टोडरमलजी कृत गोमट्टसारकी हिंदी टीकाका मिलान करें तो आपको भलीभांति विदित हो जायगा कि यह कहीं उससे बढ़कर साहित्योन्नतिका उदाहरण है। साहित्य लालित्यके साथ ही आप इसके अंदर एक और विशेषता पावेंगे वह यह कि कितने कठिन प्रमेयको पंडितजीने प्रसादगुणयुक्त हिंदी गद्यमें सरल करदिया है।

महापुराण, पार्श्वाभ्युदय, सप्तभङ्गतरिङ्गिणी आदि कितने ही अन्य ग्रंथ भी साहित्यकी उच्चताको लिए हुए सिद्धांत न्याय विषयके अच्छे प्रतिपादक हैं।

जैन साहित्यके उन्नत होनेमें दूसरा यह भी कारण है कि जितनी वर्ण संख्या दूसरोंके यहां मानी गयी है वह परिपूर्ण नहीं। पाणिनीयने ४३ इङ्गलिश भाषामें २६ किन्हीने ६९ इत्यादि वर्ण संख्या मानी है। जैनेन्द्र व्याकरणमें ४६ वर्ण माने गये हैं। द्वादशाङ्गमें जो ६४ वर्ण माने गये हैं इससे भी जैन साहित्यकी पूर्णता ज्ञात होती है।

किसीभी बातको वक्रोक्ति आदिके रूपमें कहनेसे ही उसकी शोभा होजाती है क्योंकि "वक्रोक्ति काव्यजीवितम्" उदाहरणके लिए लीजिए कि स्त्रीको अपने पतिसे यह कहना था कि आप यहांसे चले जावेंगे तो मैं मर जाऊंगी इस बातको उसने वक्रोक्तिके द्वारा कहकर सरस पद्य बना दिया—

गच्छ गच्छ सिचेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥

अर्थात् हे कान्त! यदि तुम जाते हो तो जाओ, तुम्हारे कल्याणकारी मार्ग हों लेकिन यह अवश्य ज्ञात रहे कि मेरा जन्म भी वहीं होगा जहां कि आप उपस्थित होंगे। यह एक साधारण बात ही वक्रोक्तिसे कहनेपर लोगोंकी प्रीतिके लिए होजाती है। हम साधारण रीतिसे किसीसे पूछेंगे कि आप कहांसे आये हैं और कहां जावेंगे तो इस तरहका हमारा पूछना सीधी भाषामें उतना अच्छा न मालूम होगा जितना कि साहित्यसे अलंकृत करने पर ज्ञात होगा यानी वह कौनसे मनुष्य हैं जिनकी कि मुखकमल श्री आपचन्द्रोमके यहां

आनेसे फजरी पड गई है और व कौनसे पुण्यशाली हैं जो सूर्योदयसे चक्रवाकके समान आपके आगमनसे अपनेको कृतार्थ समझेगे इत्यादि।

उक्त बातोंसे यह भलीभांति विदीत होता है कि जिससे मनोरंजन हो वही साहित्य कहलाता है पूर्वमें काव्य साहित्य आदिके ग्रन्थ बनाकर पहिले विद्वद्गोष्ठोमें पास करालिये जाते थे और पुन उसे पब्लिकके प्रचारार्थ देते थे। ऐसा करनेसे सभी ग्रन्थ जो कि पब्लिकके प्रचारमें आते थे अपनी महत्ता और गुरुताले प्रतिष्ठित रहते थे।

प० श्रीहर्ष नैषधचारित्रको बनाकर प्रथम कवि मम्मटके पास ले गये थे। पाणनीय अष्टाध्यायीको बनाकर विश्वामित्र ऋषिके पास ले गये थे। उन्होंने जब पूछा कि विश्व मित्र शब्दकी सिद्धि किस प्रकारकी है तब उन्होंने कहा कि महाराज इसके लिए "मित्रे चर्षो" यह स्वतन्त्र सूत्र बनाया है। यहा सूत्रमें ऋषि शब्द देनेसे माणवक वाची शब्द विश्वामित्र ही रह जाता है अत यह इसी नामके लिए खास सूत्र है इसपर मुनि बहुत प्रसन्न हुए और इस प्रकार व्याकरणकी परिपूर्णता जानकर उस व्याकरणको पास कर दिया।

पूर्व में कह चुका हू कि पब्लिक प्रचारार्थ जो ग्रन्थ दिये जाते थे वे पूर्णत ही अच्छी तरह परीक्षित करलिए जाते थे और ऐसा करनेसे वे पास ग्रन्थ आदमीके नैतिक बल चारित्र आदिके विषयमें सुशिक्षा देनेके लिए होते थे। आजकल कितनी ही ऐसी भद्दी पुस्तकें हम लोगोंकी दृष्टिगत होती हैं जो बच्चों युवकादिकोंके चारित्रपर बहुत बुरा प्रभाव डालती हैं अत हम इस प्रकारकी पुस्तकोंको कभी श्रेष्ठ साहित्यकी गणनामें नहीं गिन सकते क्योंकि श्रेष्ठ साहित्यका जो आत्माको शान्ति मार्ग लाना लक्षण है वह उनमें नहीं घटता।

इन सब बातोंसे विदित होता है कि **साहित्य एक आत्माका रस है** - जिसके पढनेसे आत्मा अपने स्वाभाविक गुणोंकी तरफ उन्मुख हो वही श्रेष्ठ साहित्य है। साहित्य ग्रन्थोंमें भी जहा ९ रसोंका वर्णन किया है वहा भी सर्वत्र उपरि शान्तिरसको ही बताया है क्योंकि पथिक जिस तरह सब जगह घूम आता है लेकिन अन्तमें अपने घरपर ही आजाता है उसी प्रकार साहित्य भी आत्माको जगह २ घुमाकर अन्तमें आत्माका स्वरूप जो शान्ति है उसकी ही तरफ उन्मुख करता है। आत्मा औपाधिक वृत्तिका आचरण बहुत समय तक नहीं कर सकता लेकिन स्वाभाविक जो वृत्ति है उसके हमेशा धारण करे रखनेमें भी उसे किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होती है।

उदाहरणके लिए लीजिए कि मनुष्यके शरीरको अपने अवयव जैसे बल हस्तादिका वजन कुछ वजन रूपसे प्रतीत नहीं होता और यदि उसके सिरपर १० सेरकी ही एक गठडी रख दी जाय तो वही उसे भाररूप मालूम पडने लगती है। दूसरी तरह

हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि बच्चेके शरीरमें बिजलीके अधिक होनेसे उसकी मुट्ठी बंधी रहती है और खुली रखनेमें अवश्य ताकत लगानी पड़ती है लेकिन वृद्धावस्थामें जब कि बिजली कम होजाती है उस समय वृद्धको मुट्ठी बांधकर रखनेमें प्रयत्न करना पड़ता है और खुली रखनेमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं हो। यह दूसरी बात है जो कि वृद्धावस्थामें ठण्ड आदि लगजानेसे शरीरके अवयव सिकुड़ जाते हैं।

मित्रो ! इससे भली प्रकार हमारी समझमें आजाता है कि शान्त रहना आत्माका स्वभाव है और क्रोधादि करना ये औपाधिक हैं।

साहित्यमें रसोंका वर्णन करते हुए प्रथम शृङ्गार रसका वर्णन किया है। पतिपत्नी की रतिके समय जो परस्परकी वृत्ति है उसे शृङ्गाररस कहते हैं।

इसके अनन्तर वीर रसको बताया है "उत्साहात्मा भवेद्वीरः" जो आत्मा वीर रसापन्न होती है वह उत्साहयुक्त होती है। पुनः शोकसे उत्पन्न होनेवाले करुणारसको बताया है तदनन्तर वर्णित हास्य रसकी उत्पत्ति चेष्टादिके विकृत करनेसे होती है। असभव सदृश वस्तुके देखनेसे या सुननेसे अद्भुतरस उत्पन्न होता है। भयानक वस्तुओंके देखनेसे भयानक रसकी उत्पत्ति होती है तथा क्रोधादि कारणोंके आजानेसे रौद्र और जुगुप्साके कारणोंके देखनेसे बीभत्स रसका उत्पाद होता है। अन्तमें सम्यग्ज्ञानसे है उत्पत्ति जिसकी ऐसे शान्तिरसकी उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार आत्माको जो आकुलता रहित करके शान्तिके सन्मार्गमें बैठाते हैं ऐसे ही साहित्य ग्रन्थ प्रशंसनीय और गणनीय हैं ऐसे जैन साहित्य ग्रन्थोंकी संख्या कितनी है यद्यपि यह अभीतक किसीसे विदित नहीं है तथापि ऐसा विश्वास अवश्य है कि उनकी संख्या बहुत बड़ी है और उनका महत्व बहुत चढ़ा बढ़ा है।

मन्त्रस्वरूप जैन साहित्य भी अपनी शानीमें एक ही है। **भक्तामर**के मन्त्रोंका आराधन करके और प्राप्त करके अब भी मनुष्य बहुत विचित्र २ कार्य करते दिखलाई देते हैं स्वयं **श्रीमानतुंगाचार्य** जिनको कि ४८ कोठोंके अन्दर बन्दकर दिया गया था मन्त्रोंके प्रभावसे ताले अपने आप खुलगये और मुनिमहाराज बाहर आगये। अब भी मन्त्ररूप साहित्यमें जो शक्ति है वह संस्कृत साहित्यमें नहीं और जो संस्कृत साहित्यमें शक्ति है वह हिन्दी साहित्यमें नहीं है। जैन संस्कृत साहित्य भी उसी प्रकार समुन्नत है जैसे कि जैन मन्त्र साहित्य कुछ ही समय पहिले। बादशाह अकबर हीरविजय यतिको अपनी शिक्षाके लिए अपने पास रखते थे और उनसे हरएक कार्यमें सम्मति लेते थे। **बादशाह अकबर**की सभा ९ खण्डोंमें विभक्त थी, **श्रीहीरविजय** यति पहिली श्रेणीमें थे तथा और भी तीन जैन विद्वान् ५वीं श्रेणीमें थे। महाराज अकबर जैन सिद्धा

न्तके नियमोंसे बहुत ही प्रभावित थे। कारण यह था कि वे जैन सिद्धान्तके नियम सबकी हितसाधनाके लिए थे अतएव बहुत गौरवान्वित थे। सच तो बात यह है कि साहित्यके प्रणेता जिस प्रकारके गुणों वा अवगुणोंके ढांचेमें ढले होंगे उनके द्वारा प्रणीत साहित्य भी उतनी महत्ताको रक्खेंगे।

जैन हिन्दी साहित्यके विषयमें भी यदि आप विचार करेंगे तो वह भी आपको पूर्ण मिलेगा "मुनि मनसम उज्वल नीर" इत्यादि प्रतीयालंकारका कितना उज्वल उदाहरण है तथा पंडित टोडरमलजी आदि द्वारा रचित गोमट्टसारादिकी टीकायें तथा अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ भी जैन हिन्दी साहित्यकी समुन्नत अवस्थाके परिदर्शक हैं।

इस प्रकार षट्द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धि तथा जैन साहित्यके महत्वके विषयमें जो कुछ आप महानुभावोंकी सेवामें निवेदन किया गया है उन्हीं विषयों पर अन्य कितनी ही युक्तियों द्वारा अगाडी गवेषणापूर्ण विचार किया गया है। पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी व लखनऊकी जनताके जैनमित्रमें लेखोंके लिए नोटिस निकालनेपर ३ लेख षट्द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धिके विषयमें तथा तीन लेख जैन साहित्यके महत्वके विषयमें आये।

मैं ब्रह्मचारीजी तथा लखनऊ जनताके इस प्रेमविशेषका विशेष आभारी हूँ जो कि योग्यता न होने पर भी आगत लेखोंके परीक्षणका कार्य मुझे दिया। समाजमें अन्य उद्भट विद्वानोंके रहने हुए भी जो उक्त महाशयोंने यह कार्य मुझे दिया है इसमें अवश्य ही उनका प्रेम विशेष कारण है।

जिन महाशयोंके लेख आये हैं उनके नम्बर तथा लेखकपरिचय निम्न प्रकार है।

षट्द्रव्यकी आवश्यकता व सिद्धिके विषयमें प्रथम लेख पं० मथुरादास जैन मोरेनाका आया। यह लेख संस्कृत साहित्य और दार्शनिक पद्धतिसे अच्छा है किन्तु लौकिक युक्तियोंसे काम नहीं लिया गया है। प्रकरणा तर भी कुछ २ होगया है दार्शनिक पद्धतिसे लिखनेके कारण ५० नम्बर उपयुक्त ज्ञात होते हैं। इनको जैन साहित्य सभासे ५०) पचास रुपया प्रथम नम्बरका पारितोषक भी मिला।

इसी विषयमें द्वितीय लेख पं० अजितकुमारजीका आया। इन्होंने षट्द्रव्यकी सिद्धिमें लौकिक युक्तियोंका समावेश कम किया है तथा आगमको भी पुष्ट करते हुए आगम गम्यत्वेन प्रामाण्य देना उचित था तथापि कठिन विषय होनेसे आपका अध्यवसाय प्रशंसनीय है। इनको लेखमें ४६ नम्बर मिले तथा सभाकी तरफसे दूसरे नम्बरका पारितोषक ३०) तीस रुपया दिया गया।

तृतीय लेख इसी विषयमें पण्डित बुद्धिलालजीका आया। यह लेख केवल हिन्दीकी सिफ्तसे अच्छा है परन्तु संस्कृत शास्त्रोंके तथा तदनुसार लौकिक युक्तियोंके अवलम्बनसे लिखा जाता तो विशेष प्रशंसावह होता। कुछ हिन्दीकी अशुद्धियां भी हैं तथापि प्रमेय कुछ नव्यताकी वायुसे संस्कृत किया गया है परन्तु पूर्ण अलङ्कृत नहीं होसका। इनको ४६ नम्बर दिये तथा सभाकी तरफसे तृतीय पारितोषक २०) बीस रुपया भी दिया गया।

षट्द्रव्यकी आवश्यक्ताके विषयमें ये ही सिर्फ तीन लेख आये थे।

द्वितीय विषय जैन साहित्यकी महत्ताके ऊपर प्रथम लेख पं० बनवारीलालजी स्याद्वादीका आया। इनका लेख उत्तम है। क्वचित् अशुद्धिया भी हैं किन्तु श्रमसे लिखा गया है। जैन काव्योंके महत्वपर अच्छा प्रकाश डाला है फिर भी अन्त महत्व तक दृष्टि नहीं पहुची। श्रम विशेष प्रशंसनीय है। इनको ७० नम्बर मिले तथा ५०) पचास रुपया सभाकी तरफसे पारितोषक भी मिला।

उक्त विषयपर द्वितीय लेख पं० सतीशचंद्रजी काशीका आया। आपका प्रयत्न अच्छा है किन्तु वैष्णव नियमोंपर विशेष लक्ष रक्खा है। जैन काव्योंमें दूसरे अन्यमतीय काव्योंसे महत्वद्योतक बातें अनेक भरी पडी हैं जिनका कि सम्बन्ध लौकिक पूर्ण सुख और निःश्रेयसके अतीन्द्रिय सुखसे है उन बातोंका जिक्र नहीं आया है फिर भी हिन्दी लेखनदृष्टिसे तथा शब्दालङ्कार महिमासे यह लेख जनताको आदरणीय है। इनको लब्धाङ्क ६२ दिये गये तथा सभाकी तरफसे दूसरे नम्बरका इनाम ३०) रुपया भी दिया गया।

तीसरा लेख इसी विषय पर पं० अजितकुमारजीका आया। आपका लेख उचित है। जैनत्वकी भी छाया है। अन्त्य महत्व तक नहीं पहुचे जो साहित्यका चरम फल है। नम्बर ९८ दिये गये तथा तीसरे नम्बरका इनाम २०) बीस रुपया दिया गया। ये तीन लेख जैन साहित्यके महत्व विषयपर आये। आशा है कि समाज इन लेखोंसे लाभ उठानेकी चेष्टा करेगा।

अन्तमें समाज नेताओं, विद्वानोंसे नम्र निवेदन है कि इस कार्यमें यदि किसी प्रकारकी त्रुटि रह गई हो तो क्षमा करें तथा प्रार्थना है कि इसी प्रकार दोनों तरफ यानी समाज नेता तथा विद्वानोंकी तरफसे प्रयत्न किया जायगा तो चन्द दिनों बाद ही आप जैन सिद्धान्त वृक्षकी प्रत्येक दिशामें छाया पडी हुई देखेंगे। विज्ञेष्वलमिति।

निवेदक—माणिकचन्द्र कौंदेय—मोरेना।



षट् द्रव्यकी आवश्यक्ता और सिद्धि।

(जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० १)

(लेखक—पं० मथुरादासजी टेरनी (एटा) निवासी, विद्यार्थी, गोपाल जैनसिद्धांत विद्यालय-मोरेना)

श्री वीरवैर वैर वीरै हो प्रभु तुम सुधीधर धीर हो
जगतापसे परितप्तको तुम ही सुशीतल नीर हो।
भव सुखद सुखदाधार हो सब जगत प्राणाधार हो
विनय विना तुम अन्य नहि मम भक्तिका आधार हो॥

हृदय महोदय!

इस असार संसारमें जिधर भी दृष्टिपात करते हैं सर्वत्र सुखेच्छुकोंकी ही संख्या दिखलाई देती है। सभी अपने अपने सुखोंके कारणस्वरूप मिलनेमें अतीव सन्नद्ध और बद्धपरिकर दिखलाई पड़ते हैं। हम संसारका स्वरूप विचारते हैं तो वह बीभत्स ही जान पड़ता है "संसरणं संसारः" अर्थात् संसार परिवर्तन शील है यहां कोई एकसा कभी नहीं रहता, सब वस्तुयें अपने अपने स्वरूपमें परिवर्तन करती रहती हैं, समुन्नत कभी अवनति दशापन्न और अवनति दशागत कभी समुन्नत दिखलाई देती हैं, ये सब बातें सबके प्रत्यक्ष प्रतिदिन होती रहती हैं अतः ध्यान देना चाहिये कि इस परिवर्तनका क्या कारण है।

संसारका प्रत्येक प्राणी सुखोंकी इच्छासे ही इधर उधर कभी किसीके पास और कभी किसीके पास जाता है जिस तरह विषम रोगापन्न रोगीके घरवाला जब किसी व्यक्तिसे अच्छे वैद्यकी बावत सुनता है उधर ही दौड़ता जाता है और वहांसे सफलता न प्राप्त होनेपर दूसरे वैद्यकी या औषधिकी खोजमें लग जाता है ठीक इसी तरह यह संसारी प्राणी भी कभी किसी और कभी किसी धर्मका आचरण करके सुखी होना चाहता है। यह अपने अभिलषितस्थानको जानेके लिए जब भी समुद्यत होता है तो इसे एक स्थान जानेके लिए भिन्न भिन्न मताश्रयी दार्शनिकोंसे निरूपित अलग अलग ही मार्ग दिखलाई पड़ते हैं जो कि एक दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध हैं।

ऐसे समय सुचारु विचारक महाशय! उस जीवकी क्या दशा होगी यह आप अच्छी तरह जान सकते हैं। ऐसे व्यक्तिकी दशा हम उस व्यक्तिकी दशासे जान सके हैं

---

१ वीरमें उत्कृष्ट, २ अङ्कानाम् वामतोगति इस नियमानुसार पर महावीर, ३ विशेषेइने वीर यस्य।

जो कि किसी इच्छित स्थानको जाना चाहता है और मार्गका परिज्ञान न होनेके कारण एकत्रित मनुष्योंसे पूछता है कि अमुक स्थानको जानेके लिए कौनसा मार्ग है लेकिन समूहगत प्रत्येक व्यक्ति उसे अभिलषितस्थान जानेके लिए भिन्न भिन्न ही मार्ग बतलाता है। अब या तो वह बिचारा मनुष्य जानेका विचार ही छोड़ देगा या जावेगा भी तो सन्देहानुसरणसे अभीष्ट स्थानको नहीं पहुंचेगा।

संसारमें अलग अलग धर्मोपदेशक एक मुक्तिके मार्गको पानेके लिए अपनी भिन्न भिन्न धर्मोपदेश रूपी टिकिट (Ticket) देकर स्वकल्पित सिद्धान्त गाड़ियोंमें बैठाकर इष्ट मार्ग प्राप्त करनेका दावा करते हैं अतः परीक्षाप्रधान्य मनुष्यका कर्तव्य है कि पहिले वह अपने जानेके मार्गकी अच्छी तरह परीक्षा करले जिससे कि अगाड़ी उसे अनिष्ट स्थान पर पहुंचकर दुःख न प्राप्त करना पड़े।

अब हमें पदार्थ विनिश्चायक उपायोंका यहां भी आश्रय लेना चाहिये। प्रत्येक पदार्थके निश्चयके लिए तीन उपायों की प्रथम ही आवश्यकता हुआ करती है—एक उद्देश, द्वितीय लक्षण निर्देश, तृतीय परीक्षा।

इस लेखमें षट् द्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धि बतलाने तथा सिद्ध करनेके लिए पूर्ण प्रयत्न किया गया है यही इस लेखका उद्देश है। परीक्षा व लक्षण निर्देशका क्रम खुलासा किया जायगा।

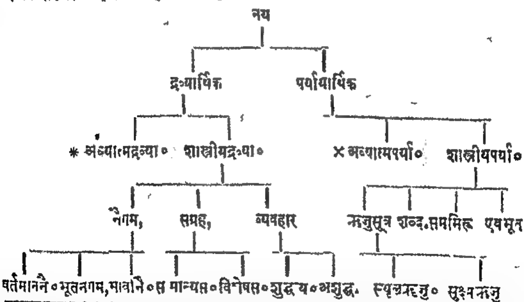
षट् द्रव्योंके नाम निर्देश और परीक्षाके पहिले द्रव्यका सामान्य लक्षण क्या है यह विचारना चाहिये। आचार्योंने द्रव्यका लक्षण "सद्द्रव्यलक्षण" या "गुणपर्ययवद्द्रव्य" ऐसा कहा है यहां कोई ऐसी शंका करे कि लक्षण तो असाधारण हुआ करता है और लक्षण द्रव्यके होनेसे अवश्य ही लक्ष्य द्रव्यकी सिद्धि होगी सो उनका यह कहना भी समुचित नहीं है क्योंकि एक ही लक्षणका यहां प्रकारान्तरसे लक्षण किया है।

"सद्द्रव्यलक्षण" "गुणपर्ययवद्द्रव्य" इन लक्षणोंका यही तात्पर्य है कि द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। सतका लक्षण "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" अर्थात् जिसमें उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (नाश) ध्रौव्य (नित्यता) ये तीनों ही रहें उसे सत् कहते हैं। ध्रौव्य नित्यात्मक है और उत्पाद व्यय अनित्यात्मक है। चेतन या अचेतन पदार्थ अपनी अपनी चेतनत्व या अचेतनत्व जातिको न छोड़कर अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कारणोंसे जो दूसरे पदार्थके स्वरूपको प्राप्त करे उसे उत्पाद कहते हैं जैसे कि मिट्टीका घट अन्य रूप आकार हो जाता है, व्ययका अर्थ पूर्व पर्यायका चला जाना है जैसे कि घटकी उत्पत्तिमें मृत्पिण्डके आकारका अभाव है। ध्रौव्य उसे कहते हैं जो कि व्यय उत्पादकर रहित है ध्रौव्य शब्दकी व्युत्पत्ति इस तरह की गई है कि ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः ध्रुवस्य भाव कर्म वा ध्रौव्य

अर्थात् जो सर्वदा स्थिति स्वभाव है उसे ध्रौव्य कहते हैं। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका द्रव्यसे पृथक् भाव है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अपृथक् भाव है क्योंकि द्रव्यसे अलग कहीं उत्पादादि नहीं देखे जाते। यहां एक द्रव्यमें उत्पादादिका भेद अभेद दोनो ही हैं अत भेद अभेद परस्पर विरोधी होनेसे एक जगह नहीं रह सकते। ऐसा नहीं कहना चाहिये जैसे कि एक पदार्थमें अपने अभीधायक (वाचक)के अभिधान (कथन) की अपेक्षा अभिधेयता है और पर अभिधायकके अभिधानकी अपेक्षा अनभिधेयता है या स्वरूपकी अपेक्षा रूपता और पररूपाकारकी अपेक्षा अरूपता है उसीतरह पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भेद और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभेद समझना चाहिये। यहां थोड़ेसेमें पर्यायार्थिक नय द्रव्यार्थिक नय लेख्य होनेसे लिखता हू।

जो साहदिमामण्ण अविणाभूद विसेसरूवेहि।
णाणा जुत्ति वलादो दव्वत्थो सो णओ होदि॥

अर्थात्–विशेष रूपसे अविनाभावी (विशेषरूपके विना जो न हो सके) जो सामान्य स्वरूप उसे युक्तियों द्वारा ग्रहण करनेवाली नयको द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यमें सामान्य विशेष ये दो धर्म रहते हैं। विशेषको अप्रधान कर और सामान्यकी मुख्यतासे जो पदार्थका ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक तथा सामान्यकी अप्रधानता पूर्वक विशेषकी मुख्यतासे जो पदार्थ पर्यायका निरूपण करता हे उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। नयके भेद प्रभेदोंकी संक्षेपसे यह सृष्टि हो सकती है–



* इसके भेद–विधिनिरपेक्ष० शुद्ध, सत्ताग्राहक० शुद्ध, भेद विकल्पनिरपेक्ष० शुद्धि, कर्मोपाधिसापेक्ष० अशुद्ध, उत्पादव्ययसा० अशुद्ध, भेदकल्पनासापे० अशुद्ध, अन्वयद्र० स्वद्रव्यादिग्राह० परद्रव्यादि परमभावग्राही०

× इनके भेद–अनादि नित्यपर्या०, आदिनित्य०, अनित्य शुद्ध०, अनित्य अशुद्ध०, कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनि शु०, कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध०,

उक्त कथनमें नयके सक्षेप रीतिसे भेद बताये हैं। पहिले नयके दो भेद किये हैं फिर द्रव्यार्थिकके २ और पर्यायार्थिकके दो भेद किये हैं पुन शास्त्रीय द्रव्यार्थिक नैगमादि तीन भेद किये है और अध्यात्म द्रव्यार्थिकके कर्मोपाधि निरपेक्षादि १० भेद किये हैं। नैगमके तीन भेद किये हैं और सग्रह तथा व्यवहारके दो दो किये हैं। शास्त्रीय पर्यायार्थिकके ऋजुसूत्रादि ४ भेद किये हैं।

ऋजुसूत्रके दो भेद किये हैं तथा अध्यात्म पर्यायार्थिक ६ अनादि नित्य पर्यायादि भेद किये है, यद्यपि नयके लिखनेका यहा विशेष प्रयोजन ही था लेकिन प्रसगवश कुछ लिखना पडा, अस्तु।

पहले द्रव्यका लक्षण कहा जा चुका है यहा यह बतलाते है कि " सद्द्रव्य लक्षण"का जो अर्थ है वही अर्थ शब्दान्तरों द्वारा " गुणपर्ययवद्द्रव्यम् "में कहा है यानी हरएक पदार्थमें कोई न कोई शक्ति अवश्य होती है जैसे कि आत्मामें ज्ञान शक्ति, धर्ममें गतिहेतुत्व, अधर्ममें स्थितिहेतुत्व, आकाशमें अवगाहहेतुत्व, कालमें वर्तनाहेतुत्व, ये शक्तिया हैं। शक्ति गुणका पर्यायवाची शब्द है। द्रव्यमें अनन्त गुण होते हैं। यहा पर कोई ऐसी शका करे कि द्रव्यमें रहनेवाला अनन्तगुणत्व वह द्रव्यसे अलग भी दिखलाई देना चाहिये। आधेय रूप द्वारा निरूपित होनेसे, कुडमें दहीके समान, जैसे कि कुडमें दही आधेयरूपसे अनुगत है अत कुडसे पृथक् भी पाया जासकता है। द्रव्यमें अनन्त गुणत्व भी आधेयरूपसे निरूपित है अत द्रव्यसे पृथक् पाया जाना चाहिये।

यह शका ठीक नहीं है क्योंकि यहा जो आधार आधेयता है उसका अर्थ युत सिद्ध पदार्थकी आधार आधेयताके समान नहीं है।

युत सिद्धका स्वरूप लक्षण यही है कि जो पृथक् पृथक् स्वाश्रय सिद्ध हों, जैसे कुडमें दही, यहा कुड और दहीमें जो आधार आधेयता है वह युतसिद्ध पदार्थोंकी आधार आधेयता कही जायगी क्योंकि कुड अपने अवयवों (अशों) में रहता है और दही अपने दहीके अवयवोंमें रहता है। युतसिद्ध पदार्थोंमें चार अर्थोंकी प्रतीति होती। १ कुड २ कुडा वयव ३ दही ४ दहीके अवयव। अयुत सिद्ध पदार्थोंमें जो आधार आधेयता है वहा तीन ही पदार्थ पाये जाते हैं जैसे आत्मामें ज्ञान गुण अयुत सिद्ध है। यहा १ आत्मा २ आत्मावयव ३ ज्ञान गुण अयुत सिद्धका लक्षण ऐसा है कि " ययो द्वयोर्मध्ये एकोऽपराश्रितः तिष्ठति तौ अयुतसिद्धौ" जिन दो पदार्थोंके बीचमें एक अपराश्रित होता वे दोनों आपसमें, अयुतसिद्ध कहलाते हैं जब कि अयुतसिद्ध पदार्थोंकी आधार आधेयता युतसिद्ध पदार्थोंकी आधार आधेयतासे सर्वथा भिन्न ही है तो युतसिद्धकी आधार आधेयतामें रहनेवाला गुण या दोष अयुतसिद्धकी आधार आधेयतामें कैसे आसकता है।

जैसे आत्मामें ज्ञानशक्ति है वह आत्मासे पृथक नहीं पाई जाती या उन ज्ञानशक्तिसे आत्मा अलग नहीं पाई जा सकती।

श्री नेमिचन्द्राचार्यने सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक जीवसे सबसे जघन्यज्ञानको पर्याय ज्ञान नामसे कहा है। यहां पर्याय समास, अक्षर, अक्षरसमास आदिमें जैसे उनका (पर्याय समासादिका) आवरण उन्हींके ऊपर पड़ता है यानी पर्याय समास ज्ञानावरण पर्याय समास श्रुतज्ञानके ऊपर पड़ता है। अक्षर ज्ञानावरण अक्षर श्रुतज्ञानके ऊपर, अक्षर समास ज्ञानावरण अक्षर समास श्रुतज्ञानके ऊपर पडता है उसी तरह पर्याय ज्ञानका आवरण भी पर्याय श्रुतज्ञानके ऊपर पडना चाहिये, लेकिन ऐसा न होकर पर्यायज्ञान, पर्याय समासज्ञान इन दोनोंका आवरण पर्याय समास श्रुतज्ञानके ऊपर ही पडता है इसका कारण यही है कि ज्ञानकी सबसे कम अवस्था है और उसपर आवरण पडनेसे आत्माके ज्ञानगुण का ज्ञान कैसे हो सकेगा यही बात श्री जीवकाण्डमें प्रतिपादित है।

णवरि विसेस जाणे सुहुम जहण्ण तु पज्जय णाण।
पज्जाया वरण पुण तदणतर णाण भेदेहिं॥

अर्थ–सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके सर्व जघन्य ज्ञानको पर्यायज्ञान कहते हैं और पर्याय ज्ञानावरण पर्यायके बादमें कहे गये पर्याय समास ज्ञानके ऊपर पडता है और यह पर्याय ज्ञान इस गाथाके अनुसार–

सुहमणि गोद अपज्जत यस्स जादस्य पढम समयम्हि।
हवदि हुसव्व जहण्णा णिच्चघाण णिरावरणम्॥

यानी–सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जो कि उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही है तब उसके ज्ञानको पर्याय ज्ञान कहते हैं वह आवरण रहित तथा नित्य ही प्रकाशवान रहता है इत्यादि इत्यादि।

यह दृष्टान्त स्वरूप जो आत्मा उसके ज्ञान गुणकी अपृथक स्थितिमें प्रसंगवश कहा गया है।

अब दृष्टान्त स्वरूप आत्मामें ज्ञान जैसे अभिन्नत्वेन रहता है उसी प्रकार अनन्त गुणत्व भी द्रव्यसे अभिन्न मानना चाहिये।

उक्त कथनसे यह बात सिद्ध की गई कि जो अर्थ सद्द्रव्य लक्षणका है वही गुणपर्ययवद्द्रव्यका है।

द्रव्यमें दो गुण रहते हैं। एक सामान्य एक विशेष। सामान्य गुण उसे कहते हैं जो बहुतसी द्रव्योंमें एकसा पाया जाय जैसे सत्व अगुरुलघुत्वादि जो एक ही द्रव्यमें रहे

उसे विशेष गुण कहते हैं जैसे कि जीवमें ज्ञानगुण, दर्शन गुण, वीर्य और पुद्गलमें स्पर्श रूप, रस, गंध।

जिस स्थानमें उक्त प्रकृतियोंकी एकता पाई जाय उसे देश कहते हैं और पुद्गल अंशको पुद्गलांशकी तरह देशके अंशको देशांश कहते हैं। गुणमें तारतम्यसे गुणांश रहते हैं। देशांश जिस तरह विष्कम्भ क्रमसे होते हैं उस तरह गुणांशोंको नहीं समझना चाहिये बल्कि तारतम्य भावसे पाये जाते हैं जैसे गुड़, खांड, मिश्री, अमृतमें माधुर्य और नीम कजीर, विष, हलाहलमें कटुता तारतम्यसे पाई जाती है।

द्रव्यमें अंशकी कल्पना की जाती है उसे ही पर्याय कहते हैं, यह अंश कल्पना दो प्रकारसे की जाती है, एक तिर्यगंश कल्पना, दूसरी उर्द्धांश कल्पना एक कालमें द्रव्य अखंड रूप देशमें विष्कम्भ क्रमसे जो देशांशोंकी कल्पना है उसे तिर्यगंश कल्पना कहते हैं जैसे खण्ड मुण्डादि गौओंमें गोत्व रहता है। अनेक समयोंमें प्रत्येक गुणकी कालक्रम तरतमरूप गुणांश कल्पनाको उर्द्धांश कल्पना कहते हैं जैसे कि स्थास कोसकुशल आदि पर्यायोंमें मृत्तिका (मिट्टी) रहती है।

उत्पाद व्यय ये अनित्य स्वरूप हैं, ध्रौव्य ये नित्य स्वरूप है, अतः सत्का स्वरूप नित्य अनित्यात्मक ही सिद्ध होता है। गुणपर्ययवद्द्रव्य ये लक्षण भी नित्यानित्यात्मक ही है क्योंकि गुण नित्य है और पर्याय अनित्य हैं अतः नित्यानित्यात्मक ये दोनों द्रव्यके लक्षण एक पैराकी ही हैं। ऊपर जो सतको नित्यानित्यात्मक कहा है वहां यह शंका होती है कि परमार्थतः सतका कभी नाश नहीं होता और असत्का कभी उत्पाद नहीं होता तो उत्पाद व्ययवालेको नित्यता और ध्रौव्यको अनित्यता कैसे आवेगी। यदि आप असत्का भी उत्पाद कहेंगे तो वन्ध्यापुत्र खरविषाण आदि असत् पदार्थोंका भी उत्पाद होने लगेगा और सत्का भी यदि अभाव होने लगे तो आकाशादि सम्पूर्ण सत्पदार्थोंका अभाव हो जायगा अतः संसारको क्यों शून्यतापत्ति नहीं होगी। तथा पर्यायका जब द्रव्यके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है तो पर्यायके नष्ट होनेपर द्रव्यका भी अभाव हो या द्रव्यका पर्यायके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है अतः द्रव्यके कभी भी नष्ट न होनेसे पर्यायोंका भी कभी विनाश न हो, इस कथनसे द्रव्य या पर्यायको नित्यता अनित्यतामेंसे एकरूप ही मानना चाहिये। एवं शंका भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि यहां जो व्यय उत्पाद कहे हैं उसका अर्थ सर्वथा विनाश या उत्पाद नहीं है जिससे कि सतका सर्वथा विनाश होनेसे संसारको सर्व शून्यताकी आपत्ति आवे, और असत्का उत्पाद होनेसे खरविषाणादिकी उत्पत्तिका प्रसंग हो। व्यय यहां पूर्व आकारका त्याग ही ग्रहण किया गया है जैसे घड़ेके फूट जानेपर सिर्फ पूर्व आकारका परिहार ही होता है, मृत्तिका (मिट्टी)का अन्वय तो बना ही रहता है और मिट्टीसे ही

घटका उत्पाद होता है उसमें पिंडके आकारका तो परिहार हो कर घटका आकार हो जाता है। मिट्टी अन्वयरूपसे तो दोनों ही अवस्थाओंमें रहती है।

इसी तरह पर्यायमें भी पूर्व आकारका विनाश होकर उत्तर आकारका उत्पाद हो जाता है अत उक्त दोष यहां घटित नहीं हो सकता।

सारांश, उक्त कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि द्रव्यके 'सद्द्रव्यलक्षण' 'गुणपर्ययवद्द्रव्य' इन दो लक्षणोंसे दो लक्ष्योंकी सिद्धि नहीं होगी बल्कि उक्त दोनों लक्षण एक ही अर्थके वाचक हैं अत लक्ष्यरूप एक द्रव्यकी ही सिद्धि होगी तथा व्यय और उत्पादका सर्वथा विनाश और उत्पाद न माननेसे सर्व शून्यतापत्ति और सर्वविपर्यासादिकी उत्पत्तिका प्रसंग भी नहीं दे सकते।

द्रव्यका श्रीमदाचार्यने भी यही लक्षण किया है यह दिखाते हैं।

दवदि दविस्सदि दविद जसब्भावे विहाय पज्जाये।
त णह जीवो पोग्गल धम्माधम्मं च काल च।
तिक्काले जं सत्त वददि उप्पाद वयप्पुवत्ते हि।
गुण पज्जाय सहाव अणादि सिद्ध खु हवे दव्व।

अर्थ—द्रवति, द्रविष्यति, द्रवित वा द्रव्य अर्थात् जो स्वभाव विभाव पर्यायरूप परिणमता है परिणमेगा, और पहिले परिणम चुका है, ऐसा २ प्रत्येक आकाश, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल व इन भेदसे ६ तरहका द्रव्य है। तीन कालमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप सत्त्वसे जो सहित हो उसे या गुण पर्याय सहित जो अनादि सिद्ध हो उसे द्रव्यका लक्षण कहते हैं। ये तीन लक्षण एकार्थक हो सकते हैं।

यहां कोई ऐसी शंका करे कि यदि ये तीन लक्षण एकार्थके ही सूचक है तो तीन लक्षण क्यों किये, सो उसकी यह शंका भी समुचित नहीं है क्योंकि इन तीनों लक्षणोंमें शब्द भेद और अर्थ अभेद होनेपर पृथक् २ शक्तिकी अपेक्षा ये लक्षण कहे गये हैं ऐसा मानना चाहिये।

पहिला लक्षण द्रवति द्रविष्यति द्रवित आदि रूप द्रव्यत्व शक्तिकी अपेक्षा यह हम पहिले ही कह आये हैं कि शक्ति और गुणमें भेद नहीं है अत पहिला लक्षण द्रव्यत्वगुणकी अपेक्षा, दूसरा लक्षण यानी तीनकालमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन सत्तसे सहित जो हो वह द्रव्य है यह सत्त्वगुणकी प्रधानतासे है। तीसरा लक्षण गुणपर्याय सहित जो अनादि सिद्ध हो वह द्रव्य है यह अगुरुलघुगुणकी अपेक्षा है।

इस प्रकार अर्हतमतावलम्बियोंके द्वारा स्वीकृत द्रव्यका लक्षण कहा। अब दूसरे २ व्यक्ति द्रव्यका लक्षण कैसा २ मानते हैं, यह संक्षेपसे दिखलाया जाता है क्योंकि विना

दूसरेके लक्षणोंका निरूपण किये हम उनका दोषादि नहीं बतला सके अतः उनके द्रव्यकी अप्रमाणता बिना सिद्ध किये हम अपनी ही द्रव्यकी सर्वथा प्रमाणता है यह भी नहीं कह सके, यथा।

ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचैः स्वगुणं व्यनक्ति।

अन्धकारके बिना सूर्य और काचके बिना मणि अपने गुणको प्रगट नहीं करती है उसी प्रकार बिना अन्य (झूठे) द्रव्य लक्षणके हमारा सम्यक् द्रव्यलक्षण भी अपने विशद लक्षणकी महत्ता द्योतक नहीं। इसी आशयका आश्रय लेकर परिकल्पित कुछ द्रव्योंका लक्षण और साथ ही उनकी अप्रमाणता भी बताते हैं।

'क्रियावत् गुणवत् समवायि कारण द्रव्यलक्षणं' यानी क्रिया और गुण युक्त जो समवायी कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्यका लक्षण वैशेषिक, योग मानते हैं किन्तु इनका यह मानना भी ठीक नहीं है।

क्योंकि वैशेषिक लोगोंने लक्षणका लक्षण असाधारण धर्म वचन, असाधारण (विशेष) धर्मका जो कहना उसे लक्षण कहते हैं ऐसा माना है।

और इस लक्षणके लक्षणानुसार उक्त द्रव्यका लक्षण घटित नहीं होता क्योंकि ये द्रव्यका लक्षण पृथिव्यादिकों नौ ही में जाता है अतः असाधारण नहीं कहा जा सकता। असाधारण एक ही जगह रहता है यदि असाधारण बहुत जगह रह निकले तो असाधारणत्व की हानि होती है तथा ऐसे असाधारण और साधारणमें कुछ भेद भी नहीं कहा जासकता जब कि असाधारणत्वका नाश होनेसे असाधारण कुछ चीज़ ही सिद्ध नहीं होगा तो 'यह गौ है सींगवाली होनेसे' ऐसे साधारण ही हेतु दिये जायगे और इस तरह साधारण हेतु देनेसे अतिव्याप्ति दोष आवेगा अतः किसी भी पदार्थकी व्यवस्था नहीं बनेगी यदि यही दोष जैनियोंके यहां भी दिया जाय यानी जैनियोंने जैसे 'सद्द्रव्यलक्षणं' ये द्रव्यका लक्षण माना है और जीवादि द्रव्योंमें से उस द्रव्य लक्षणकी अनुवृत्ति करते हैं अतः उनके यहां भी तो द्रव्य लक्षण नहीं बनसकता ऐसा आरोप नहीं कर सकते क्योंकि जैन दर्शनानुसार लक्षणका लक्षण असाधारण धर्म वचन नहीं है युक्ति बाधित होनेसे। लकड़ीके सम्बन्धसे मनुष्यको भी कभी २ लकड़ी कह दिया करते हैं लेकिन लकड़ी यह मनुष्यका असाधारण धर्म न होनेपर लक्षण माना जाता है अतः जैन दार्शनिक असाधारण धर्मको लक्षण नहीं मानते अतएव उक्त दोष उनके ऊपर नहीं आसकता बल्कि उन्हींके ऊपर आता है जो कि असाधारण धर्मको लक्षण मानते हैं। दूसरे, जैनियोंके द्वारा स्वीकृत द्रव्यका लक्षण जहां जहांपर पाया जाय। वहां वहां द्रव्यत्वका निश्चय कर देगा।

प्रतिपक्षी (शङ्काकार)-जैनियोंके यहां जैसे जहां २ द्रव्यका लक्षण रहेगा वहां वहां द्रव्यत्वका निश्चय करा देगा उसी तरह हमारा भी द्रव्य लक्षण जहां २ रहेगा द्रव्यत्वका निश्चय करा देगा।

(जैनी)-आप ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि आप तो द्रव्यका लक्षण द्रव्यसे सर्वथा भिन्न मानते हैं, यदि अभिन्न मानेंगे तो स्वसिद्धान्त हानि होगी।

(प्रतिपक्षी) द्रव्यत्वके योगसे हम द्रव्य सिद्ध कर देंगे।

(जैनी) ऐसा करनेसे तो उपचारसे ही द्रव्यकी सिद्धि होगी क्योंकि-" मुख्या भावे सतिप्रयोजने उपचारः प्रवर्तते " मुख्यके न रहनेपर और प्रयोजनके होनेपर उपचारकी प्रवृत्ति होती है।

अस्तु तुष्यतु दुर्जन न्यायसे आपका द्रव्यलक्षण सिद्ध भी मान लिया जाय तथापि पृथ्वी, अप, तेज, वायु, मनमें ही उपर्युक्त द्रव्यका लक्षण जाता है। आकाश, काल, दिशा आत्मामें नहीं जाता अत पक्षाव्यापक होनेसे द्रव्य लक्षण आदरणीय नहीं कहा जा सकता।

(प्रतिपक्षी) आकाश, काल, दिशा, आत्मामें गुणवत् समवायिकारण यह द्रव्यका लक्षण सार्थक हो जायगा अत हेतु पक्षाव्यापक नहीं हुआ।

(जैनी) ऐसा कहनसे दो लक्षण द्रव्यके सिद्ध हो गये एक "क्रियावत् गुणवत्समवायि कारण" दूसरा 'गुणवत समवायिकारण'।

जब दो लक्षण सिद्ध हो गये तो द्रव्य पदार्थकी इन दो लक्षणोंसे सिद्धि होनी चाहिये अत पुन द्रव्यका लक्षण निर्दोष नहीं कहा जा सकता, जिससे कि पृथ्वी आदि नव द्रव्योंकी सिद्धि हो सके और फिर-" समवायसम्बन्धावच्छिन्न गन्धत्वावच्छिन्न धेयता निरूपिताधिकरण तावत्व गन्धवत्व" इत्यादि पृथ्वीका लक्षण नहीं बन सकता। क्योंकि लक्ष्य द्रव्यकी बिना सिद्धि किये लक्षण नहीं बन सकता।

सांख्य अर्थ क्रिया कारित्व ही वस्तुका लक्षण मानते हैं—

इनका कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मुक्तजीव नोकर्म मलावरणसे सर्वथा मुक्त हो गये हैं उनके क्रियाके अभावसे अवस्तुताका प्रसंग आता है। कोई कहे कि हम मुक्तोंमें भी क्रिया मान लेंगे तो उसके मतमें मुक्त जीवको कर्मपनेका ही उच्छेद हो जायगा क्योंकि संसारी क्रियावान् हैं सकर्मक होनेसे। जो जो सकर्मक होते हैं वे ही क्रियावाले होते हैं जैसे संसारी रूप। इस अनुमानमें सकर्मक और क्रियावान्का आपसमें अविनाभाव सम्बन्ध बतलाया है। मुक्तोंमें सकर्मकत्व हेतु न रहनेसे क्रिया नहीं मानी जा सकती, यदि

कोई ऐसी शंका करे कि मरण पश्चात् जीव दूसरी गतिको जाता है उस समय इसके कोई कर्म नहीं होते हैं तथापि दूसरी गतिके लिए गमनरूप क्रिया करता ही है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि विग्रह गतिमें जीवके कार्माणकाययोग रहता ही है। क्रिया, उत्क्षेपण अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन इस तरह पांच प्रकार बतलाई गई है। मुक्तोंमें उक्त पांच क्रियाओंमेंसे कोई भी क्रिया नहीं देखी जाती अतः मुक्त सक्रिय नहीं हो सकते हैं और निष्क्रिय होनेसे अवस्तुत्वकी आपत्ति आती है अतः वस्तुका लक्षण अर्थक्रियाकारित्व भी नहीं मानना चाहिये। वैशेषिक 'वस्तुका लक्षण सत्तारूप है' ऐसा ही मानते हैं, उनका यह लक्षण मानना भी समुचित नहीं है क्योंकि सत्तासे उनने महासत्ता मानी है और उस महासत्ताको वे नित्य ही मानते हैं अतः सिद्ध नहीं हो सकती।

सभ्य महोदय! पूर्वोक्त कथनमें द्रव्यके लक्षणकी परीक्षा करनेके लिए द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह तर्क कसौटी पर चढ़ाया गया है। अब आगाही मुझे आपके सामने यह और पेश करना है कि द्रव्य कितने हैं और किस किसने कितने माने हैं।

यह बात भली भांति विदित होगी कि पदार्थको प्रत्यक्षगत करके ही तुलना की जाती है। उससे पदार्थका जितना विशद ज्ञान होता है उतना अनुमानादिसे नहीं होता। तुलनाको हमें कसौटीरूप [illegible] अवश्य मानना चाहिये क्योंकि तुलना बिना पदार्थ सार्थक नहीं होती, जैसे कि काले रंगके रहनेसे ही शुक्ल रंगकी महत्ता या अन्धकारके रहनेसे प्रकाशकी, रात्रिके होनेसे दिनकी, सुखसे दुःखकी, और द्रव्यके सम्यक् लक्षणकी भी द्रव्यलक्षणाभासोंसे महत्ता है और द्रव्यसंख्याकी महत्ता भी तभी प्रमाणताको प्राप्त होती है जब कि द्रव्यसंख्याभास (झूठी द्रव्योंकी संख्या) हो अतः यहां पर कल्पित द्रव्यलक्षणको दिखाकर और उसका खण्डन करके स्वदर्शनी जैनियोंके द्वारा कथित संख्याके सिद्ध करनेमें यही तात्पर्य है।

जिस तरह दूसरोंके द्वारा स्वीकृत द्रव्यके लक्षण भिन्न २ होने पर भी लक्ष्यकताको नहीं प्राप्त होते हैं उसी तरह अन्य महाशयों द्वारा निर्धारित द्रव्यकी संख्या भी ठीक २ प्रतीत नहीं होती। किन्हीं २ की मानी हुई संख्या किसी न किसी भेदसे रहित और किन्हीं किन्हींने उन द्रव्योंकी संख्या वृद्धिके लिए पुनरुक्तिको भी दोष नहीं माना है।

"द्रव्याधिकरणवृत्ति सत्ताभिन्न जातिमत्वं द्रव्यस्यैव लक्षणं" इस द्रव्यके लक्षणको स्वीकार करने वाले वैशेषिक मत पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव मानते हैं। यहां उनका स्वरूप सिद्धान्त बताकर पुनः मैं जैनियोंके द्वारा कथित संख्याकी तुलना करता हुआ वैशेषिकोंका अभिमत द्रव्य संख्याकी निरर्थकता बतलाऊंगा।

वैशिषिक, समासमें पदार्थ दृष्टिसे हम देखते हैं तो हमें सात पदार्थ ही ज्ञात होते हैं जो कि ऊपर वर्णित हैं।

शङ्काकार—आप लोग शक्तिको अलग पदार्थ क्यों नहीं मानते यदि आप कहें कि शक्ति वस्तुभूत नहीं है तो परीक्षा प्रधानी हम आपके वचन मात्रसे यह नहीं मान सकते, शक्तिके साधक प्रमाण निर्दोष और सबल हैं अतः शक्तिको अलग पदार्थ मानना चाहिये। हम देखते हैं कि अग्निका प्रतिबन्धक कोई कारण जबतक नहीं समीप आता अग्नि बराबर अपना दहन करना कार्य जारी रखती है। प्रतिबन्धक मणि आदिके आजाने पर उसकी शक्ति विनष्ट हो जाती है और फिर वह दाह नहीं करती अतः यह बात सुतरां सामान्य है, कि शक्ति पदार्थान्तर है। यह शङ्काकारकी शङ्का भी अविचारित ही है, क्योंकि दाहरूप कार्यके लिए अग्नि कारण है लेकिन कालान्तर रहित या विशेषके द्वारा बाधित सामर्थ्य कारण कार्योत्पत्तिके लिए मजबूर नहीं किया जा सकता"। यहां जो मणिके सद्भावसे अग्निकी दाहकत्वका अभाव हुआ सो यहां अग्निके दाहकत्व कार्यके लिए उत्तेजकाभाव विशिष्ट मण्यभाव कारण है जब कि मणिके सद्भाव होने पर उत्तेजकके अभावसे विशिष्ट मणि अभाव रूप कारण ही नहीं तो कार्य कैसे हो सकता है। अतः शक्ति कोई पदार्थान्तर नहीं है।

(शङ्काकार) अस्तु, शक्ति पदार्थान्तर नहीं है ऐसा हम भी मानते हैं किन्तु आपने जो द्रव्यके पृथ्वी, अप (जल), तेज (अग्नि), वायु (हवा), आकाश, काल, दिशा आत्मा, मन ये ९ भेद माने हैं उनमें आपको अन्धकार भी एक १० वीं द्रव्य मानना चाहिये क्योंकि "नीलं तमः चलति" यहां पर अन्धकारमें आपकी द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित हो जाता है। आपने द्रव्यका लक्षण "क्रियावत् गुणवत् समवायि कारण द्रव्य लक्षण" ऐसा किया है। चलति (चलता है) इस क्रियाका आधार होनेसे अन्धकारमें क्रियावत् विशेषण रह ही जाता है तथा नीलं तमः (नीला अन्धकार—अन्धकारकी बहुगुणत्वता)। ऐसा कहनेसे गुणवत् विशेषण भी घटित होही जाता है अतः अन्धकारको द्रव्य मानना ही चाहिये और उक्त ९ द्रव्योंमें इसका अन्तर्भाव भी नहीं है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, ये रूप रहित और अन्धकार रूप है। अतः इनमें उसका (अन्धकारका) अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अन्धकार गन्ध रहित है अतः गन्धवाली पृथ्वीमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता तथा अन्धकार शीत गुण विशिष्ट भी नहीं है अतः जलमें, उष्णगुणत्व भी रहित है अतः तेजमें नहीं घट सकता"। अब जब कि अन्धकार उक्त नौ द्रव्योंमें अन्तर्भूत भी नहीं होता, और

द्रव्यका लक्षण इसमें घट ही जाता है फिर भी अन्धकारको द्रव्य न माननेमें सिवाय तीर्व मोहके और कोई कारण नहीं कहा जासकता।"

यह सब उक्त शङ्काकारका कथन मात्र ही है। क्योंकि अन्धकार तेजके अभावके सिवाय कोई भावान्तर नहीं है।

(शङ्काकार) यदि ऐसा ही है तो फिर अन्धकारका अभाव ही तेज द्रव्य हो जायगा। अन्धकार ही को मान लीजिए। तमको तेजका अभाव होनेमें न मानना और तेजको तमका अभाव होने पर भी मानना यहां विद्वेषातिरिक्त क्या कारण कहा जा सक्ता है?

(उत्तर दाता) यदि तेज द्रव्यको अन्धकारका अभाव मान लिया जाय तो अभावमें सर्वानुभूत उष्णत्व नहीं रह सक्ता, और फिर उस उष्णत्वकी आधार रूप कोई अन्य द्रव्य माननी पड़ेगी।

द्वितीय, जो अन्धकार चलता है यहां द्रव्यका लक्षण भी संघटित नहीं होता। क्योंकि नील रूपको जो वहां प्रतीति होती है वह भ्रान्त रूप ही है। अतः द्रव्य एक ही माननी चाहिये न अधिक और न कम। इस सबके माननेवाले वैशेषिकके मतमें द्रव्यकी एकता सिद्ध नहीं हो सकी क्योंकि उन्होंने ९ भेदवाला माना है और द्रव्यको एकता न बननेसे सात पदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि स्वतन्त्र नौ द्रव्योंसे एक द्रव्य सिद्धि होनेपर द्रव्य रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन २४ गुणोंमें ऐक्य सिद्ध होनेसे एक गुण, उत्क्षेपादि पूर्वोक्त पांच क्रियाओंमें एकता सिद्ध होनेसे एक क्रिया, पर-अपर दो सामान्योंमें तथा नित्य द्रव्यमें रहनेवाले अनन्त विशेषोंमें एकत्व सिद्ध होने पर एक सामान्य व एक विशेष, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव इन चार अभावोंमें एकता सिद्ध होनेसे एक अभाव, एक समवाय के समान सिद्ध होते तो सात पदार्थोंकी सिद्धि होती लेकिन उक्त द्रव्य गुण कर्मादिकोंमें एकता सिद्ध नहीं हो सकती अतः पदार्थ सात हैं यह कहना भ्रममात्र है। द्रव्यत्वके योगसे एक द्रव्य मानेंगे तो उपचारसे ही एकता सिद्ध होगी परमार्थतः सिद्ध नहीं हो सकती।

(शङ्काकार)—द्रव्य एक पदसे सामर्थ्यतः द्रव्यके सब भेद, प्रभेद ग्रहण कर लिये जावेंगे अतः द्रव्यमें एकता और गुण कर्मादिमें भी इसी तरह एकता आनेसे सात पदार्थोंकी सिद्धि हो जावगी, उक्तञ्च-

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वसिद्धये।
समासेनाभिधानं यत्संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥

अर्थ— विस्तारपूर्वक जिन पदार्थोंका तत्वनिश्चयके लिए उपदेश दिया जाता है

उनका जो संक्षेपसे कहना है उसे संग्रह कहते हैं। अत संग्रहनयकी अपेक्षासे एकता सिद्ध हो जायगी अत सात पदार्थ मानना चाहिये।

उक्त कथन भी समुचित नहीं है क्योंकि एक पद वाच्य होनेसे एकता की ही प्रतीति होती है, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि सेना वन आदि एक पद वाच्य अनेक पदार्थ देखे जाते हैं। यहा ऐसी शका करना कि सेना वनादि एक पाद वाच्यसे सबन्ध विशेषयुक्त एक की ही प्रतीति होती है। वह सम्बन्ध संयुक्त संयोगाल्पीयस्त्व लक्षणवाला कहा जाता है।

संयुक्तका जो नैरन्तर्य सम्बन्ध यानी संयुक्तका जो निरन्तरित सम्बन्ध उसे संयुक्त संयोगाल्पीयस्त्व कहते हैं। यह कहना भी युक्ति सम्मत नहीं है। क्योंकि से । वन आदि शब्दसे सबका ज्ञान मनुष्य घोड़ा आदिमें ही होता है। वन शब्दके कहनेसे पृथक् २ पेड़ोंमें ही होता है। सम्बन्ध विशेषमें जो आप ज्ञान कहते हैं सो नहीं होता अत एक पद वाच्य होनेसे एकताकी सिद्धि नहीं होसकी। अन्यथा एक पद वाच्य होनेसे यदि एकताकी सिद्धि की जाय तो एक गोशब्द द्वारा वाच्य जो ११ शब्द हैं उन सभीकी एकता माननी चाहिये।

उक्तञ्च-वाचि, वारि, पशौ,भूमौ, दिशि,लाम्नि,पवौ, दिवि।
विशिखे, दीधितौ, दृष्टावेकादशसु गोर्मतः॥

गोशब्द वचन, पानी, पशु, भूमि, दिशा, रोम, वज्र, आकाश, वाण, किरण और किरण इन ११ अभिधेयोंमें हैं।

एवं एक य शब्दके वाच्य त्याग, नियम, यम, वायु, याता, पाता रक्षक इन छहोंमें भी एकता होनी चाहिये।

(शङ्काकार) वचन पशु आदिका वाचक गोशब्द, त्याग, नियम, यम आदिका वाचक य शब्द भिन्न भिन्न ही हैं फिर एक पद वाच्यत्व ही यहा नहीं रहता तो एकता कैसे।

(उत्तर) यह भी आपका कहना ठीक नहीं, ऐसे हम भी कहसक्ते हैं कि पृथ्वी जल आदिका वाचक अलग अलग ही द्रव्य शब्द है अत एक पद वाच्यता न होनेसे एकता नहीं हो सकती।

संग्रह किये जाय अनेक पदार्थ जिस शब्दसे ऐसा शब्दात्मक संग्रह, और एक प्रत्ययसे अनेक पदार्थ ग्रहण किये जाय ऐसा प्रत्ययात्मक संग्रह और अर्थात्मक इन तीनों संग्रहोंसे द्रव्यकी एकता सिद्ध नहीं की जासकी। द्रव्यकी ९ संख्या मानना भी सदया भास है क्योंकि इन ९ द्रव्योंका जीव पुद्गलमें अन्तर्भाव हो जाता है।

पृथ्वी, अप, तेज, वायु, मनका स्पर्श, रस, गन्ध, रूपवाले होनेसे पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि जो जो स्पर्श रूप रस गन्धवाले होते हैं वे पौद्गलिक होते हैं जैसे आम।

वायु और मनमें रूप न मानना भी न्यायसंगत नहीं है क्योंकि वे रूपत्व युक्त हैं स्पर्शवाली होनेसे। इस अनुमानसे वायुको रूपता सिद्ध ही है। वायुका रूप देखनेमें नहीं आता अत उसे मानना भी नहीं चाहिये, यह कहना भी न्यायसंगत नहीं है क्योंकि जो जो देखनेमें नहीं आते उन उनका अभाव, यदि आप ऐसा कहेंगे तो तुम्हारे देखनेमें परमाणु नहीं आसकता अत उसका भी अभाव करना चाहिये। या तुम्हारे देखनेमें अपने बाबा परबाबा आदि भी देखनेमें नहीं आते अत वे हैं ही नहीं ऐसा ही कहना चाहिये।

(शङ्काकार)—परमाणु परबाबा आदि यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं हैं तथापि कार्यसे कारणका अनुमान होता है। इस न्यायसिद्धान्तानुसार कार्य जो मकान आदि उनसे कारण परमाणु आदिका और पिता हैं अत परबाबाका हम ज्ञानकरेंगे। लेकिन वायुके रूपका कार्य कुछ नहीं जिससे कि कारण स्वरूप रूप का ज्ञान किया जाय।

(उत्तर)—ऐसा मत कहो क्योंकि स्पर्शादिकी रूपादिकके साथ व्याप्ति सिद्ध है अत वायुका स्पर्शवत् होना रूपवान् बिना अवश्य मानना पड़ेगा।

मन दो प्रकारका होता है द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन अष्टदलकमलके आकार रहता है और तदाकार जो आत्माके प्रदेश हैं उसे भावमन कहते हैं। चक्षुकी तरह ज्ञान और उपयोगका कारण होनेसे मन भी रूपादिवाला है, भावमनका अन्तर्भाव आत्मामें हो जाता है।

(शंका) आपने जो ज्ञानोपयोगत्व हेतुसे मूर्तिमत्त्वकी सिद्धि की सो ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानोपयोगत्व हेतु शब्दमें भी रहजाता है जो कि विपक्ष है। यानी मूर्तित्व साध्यसे विरुद्ध है अत अनैकान्तिक दोषसे दुष्ट हेतु होनेके कारण साध्य सिद्धि नहीं कर सकता।

(उत्तर) यह आपकी शंका सर्वथा अज्ञानतासे भरी हुई है क्योंकि शब्दको पौद्गलिक होनेसे हम मूर्तिमान् मानते ही हैं।

(शङ्काकार) यदि शब्द पौद्गलिक होता तो अन्य पुद्गलके समान दिखाई देता लेकिन जब शब्द दिखलाई ही नहीं देता तो मूर्तिमान कैसे सिद्ध हो सकता है।

यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि वक्ताके मुखके निकट देशी मनुष्य प्रत्यक्षसे और दूर देश स्थित पुरुष अनुमान कर यानी मुख पर रूई आदि हलकी वस्तु

संसार मान सकते हैं। दूसरे, यदि शब्द पौद्गलिक न होता तो इसका पौद्गलिक वस्तुके द्वारा व्याघात नहीं हो सकता था लेकिन व्याघात होना दृष्ट है। तथा शब्द पौद्गलिक है तभी तो मनुष्य जो कि सदा तोपोंकी आवाज किया करता है बहिरा या कुछ कम सुननेवाला होजाता है। भरी आवाजको सुनकर गर्भिणियोंका गर्भ गिर जाता है। यदि शब्द पौद्गलिक न होता तो मूर्तिमान् मनुष्य स्त्री आदिको व्याघात न पहुंचता। इससे ज्ञात होता है कि, शब्द पौद्गलिक है और पौद्गलिक होनेसे मूर्तिमान् है, यदि शब्द पौद्गलिक न होता तो इसका इस तरह भी नहीं वह सकता। दिशाका आकाशमें अन्तर्भाव हो सकता है-अतः द्रव्यकी ९ संख्या मानना असमाधान है। क्योंकि इस तरह तो सभी जीव-पुद्गल इन दो द्रव्योंमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः ९की अपेक्षा जीव-पुद्गल ये दो ही द्रव्य मानना चाहिये किंतु इतना माननेपर भी धर्म अधर्म आकाश काल ये ४ और द्रव्य मानने चाहिये क्योंकि इनका उक्त जीव पुद्गल दोमें अन्तर्भाव नहीं है अतः इस प्रकारसे यह संख्या ठीक समझना चाहिये कि आकाशके सिवाय जीव पुद्गलमें सभी द्रव्यसंख्या अन्तर्भूत हो जाती है लेकिन तो भी लोकगत सभी पदार्थ उनमें नहीं आते। धर्म अधर्म ये दो द्रव्य बाकी बच ही जाते हैं और जीव अजीवमें तो आकाश तथा धर्म अधर्म ये भी सब आजाते होजाती हैं अतः आपकी द्रव्य संख्या समञ्जस नहीं मानी जा सकती क्योंकि तदाभास होनेसे।

अब नैयायिकोंने कितने पदार्थ माने हैं यह सुस्पष्ट बतावेंगे। नैयायिक उक्त ७ पदार्थोंके अतिरिक्त और भी सोलह पदार्थ मानता है। वे ये हैं-प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, निग्रह, जाति, किन्तु यह भी पदार्थ संख्या ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाण प्रमेय इन दोमें ही सबका अन्तर्भाव हो जाता है।

सांख्यमतवाले प्रकृति, महान्, अहङ्कार, पांच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) पांच इन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण) पांच कर्मेन्द्रिय (वचन, पाणि, पाद पायु, उपस्थ) पांचभूत (आकाश, वायु, तेज, अप, पृथ्वी) एक पुरुष इस तरह २५ पदार्थ मानते हैं। सांख्यके विषयमें बहुत वक्तव्य है लेकिन लेख वृद्धि भयसे स्वल्प ही कहूंगा उक्त जो पदार्थोंकी व्यवस्था है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जब कापिलिक प्रधान (प्रकृति) को ज्ञाता कर्ता मानते हैं तो फिर पुरुषके माननेकी क्या आवश्यकता है।

(कापिलिक) कर्ता ज्ञाता प्रकृतिको मानकर भी भोक्ता पुरुष अवश्य मानना चाहिये।

(जैन) प्रकृति करने वाली नहीं हो सकती, भोगनेवाली न होनेसे। जो जो भोगनेवाली नहीं है वह करनेवाली भी नहीं है जैसे मुक्तात्मा कर्मके अभावसे कुछ भोगने वाले नहीं है अ॰ व कर्ता भी नहीं है। प्रकृतिको आपने न भोगनेवाला माना ही है अत उसे कार्य कर्तृ भी नहीं मानना चाहिये क्योंकि भोक्तृत्वके अभावकी कर्तृत्वके अभावके साथ व्याप्ति है।"

यहां कोई मनचला आदमी यह कह कि रसोइया कर्ता है लेकिन भोक्ता नहीं है, भोक्ता मालिक है यह उसका कहना केवल हास्यके लिए ही हो सकता है क्योंकि पाचक जो कुछ प्रयत्न करता है उसका फल यानी भोग रुपया आदि लेकर अवश्य करता है। " अनैतिक काम करनेवाले भी यश आदि इच्छा करके स्वकृत कार्यके फल भोग ही लिया करते हैं और यदि कर्ताको भोक्तासे सर्वथा भिन्न मानेंगे तो भुज धातुसे- कर्तामें प्रत्यय होकर जो भोक्ता शब्दकी सिद्धि होती है वह नहीं हो सकती।

हास्यो पादक बात तो यह है कि प्रकृतिको तो सांख्योंने मुक्तात्मा माना है और इस उपकारके लिए पुरुषको मोक्ष इच्छुक पूजते हैं। यह सिद्धान्त इस बातकी सिद्धिके लिए पुष्ट साधक होगा कि " भोजन अन्य ही करे और पेट दूसरेका ही भरे " अत सांख्यके द्वारा स्वीकृत भी सत्ता भी ठीक नहीं है क्योंकि उनके स्वीकृत चौवीसों पदार्थोंका भी आमीवके अन्दर ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अब कुछ बौद्धोंके विषयमें और कहकर मैं इस प्रकरणको समाप्त करता हू। बौद्धके चार भेद है—१ माध्यमिक, २ योगाचार, ३ सौत्रान्तिक, ४ वैभाषिक, इन चारों भेदोंका पृथक् २ सिद्धान्त बतला देनेसे बौद्धमान्य पदार्थ सत्ताका कहां दावा है यह अच्छी तरह समझमें आ जायगा।

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्।
योगाचारमते तु सन्ति मतयः तासां विवर्तोऽखिलः॥
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः।
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

माध्यमिक चेतन अचेतन ही पदार्थ मानता अवशिष्ट सबको उसकी पर्याय मानता है। "देवानां सदद स्वरथां मन्दने मध्यमा प्रत इति वचनात्" माध्यमिक लोग केवल सचेतन सूक्ष्म पदार्थ मानते हैं।

योगाचार मतानुयायी ज्ञान ही ज्ञान मानते हैं अन्य पदार्थ नहीं। अन्य सब पदार्थ ज्ञानकी पर्याय हैं ऐसा कहते हैं। " आकारसहिताबुद्धि योगाचारस्य सम्मता " आकार सहित बुद्धि (स्वरूपज्ञान) को योगाचारके मतमें प्रमाणता है। सौत्रान्तिक बुद्धि यानी

प्रत्यक्षके द्वारा अनुमित पदार्थको ही मानता है और वह पदार्थ क्षणस्थिति शील (क्षणिक) है ऐसा कहता है।

" सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्ष ग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः " सौत्रान्तिक (नास्तिक) केवल प्रत्यक्ष वस्तु ही को मानता है।

यद्यपि बौद्ध सामान्य पनेसे प्रत्यक्ष अनुमान दो प्रमाण मानते हैं किन्तु बौद्ध भेदान्तर्गत सौत्रान्तिक केवल प्रत्यक्ष पदार्थको ही मानता है। वैभाषिक संपूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष और क्षणभङ्गुर मानते हैं।

" अर्थोज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहुमन्यते " वैभाषिक ज्ञानान्वित पदार्थको बहु ज्ञान मानते हैं" यह सूक्ष्मतः बौद्धोंकी पदार्थ कल्पना है।

बौद्ध पदार्थको क्षणिक मानते हैं। वे कहते हैं कि " सर्वं क्षणिकं सत्वात् " सब पदार्थ क्षणविनश्वर हैं सत होनेसे। यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि सत्वरूप जो हेतु है उसे यदि आप स्वभाव हेतु मानेंगे तथापि नहीं बन सकता। क्षणिकके विनश्वर होनेसे हेतुकी ही प्रवृत्ति ही नहीं होती। क्योंकि प्रत्यक्षगोचर पदार्थमें ही हेतुकी प्रवृत्ति होती है। पदार्थोंका क्षणभङ्गुरता स्वभाव भी नहीं है।

(शङ्काकार) सब ही पदार्थ एक क्षणतक रहनेवाले हैं। विनाशके लिए दूसरोंकी अपेक्षा न करनेसे, जैसे कि कार्योत्पादके ठीक एक समय पहिलेकी सामग्री कार्योत्पत्तिमें किसीकी आवश्यकता नहीं रखती है।

दुनियामें घटादिकका मुद्गरादिकसे नाश होता है, ऐसा कथन सिर्फ स्थूल बुद्धि वालोंका ही है। पदार्थ स्वविनाशी हैं। मुद्गरादिक उनका विनाश नहीं करते।

कल्पना कीजिए कि यदि मुद्गरने घटका विनाश किया तो घटसे भिन्न किया या अभिन्न। यदि भिन्न कहेंगे तो घटकी स्थिति बनी ही रहनी चाहिये। यदि अभिन्न नाश किया तो मुद्गरने घटको बना दिया।

सत्वरूप हेतुकी विपक्षवृत्ति नहीं है अतः साधु है, क्योंकि सत्व अर्थ क्रियासे व्याप्त है, अर्थ क्रियाक्रम यौगपद्यसे व्याप्त है, नित्यमें क्रम यौगपद्य नहीं रहते अतः अर्थ क्रिया भी नहीं रहेगी और अर्थ क्रियाके न रहनेसे नित्यमें सत्व भी नहीं रह सकता अतः निर्दोष सत्व हेतु क्षणिक पदार्थकी सिद्धि करता ही है।

यह बौद्धोंका कहना भी शोभाको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि क्षणिक सिद्धिके लिए जो हेतु दिया था वह सर्वथा सदोष है। घटपटादि पदार्थ विनाशके लिए दूसरोंकी अपेक्षा रखते ही हैं और पदार्थोंकी विनाश स्वभावता क्षणिक रूपसे नहीं मानी जासकती। उत्तञ्च–

समुदेति विलयमृच्छतिभावो नियमेन पर्ययनयस्य ।
नो देति नो विनश्यति भावनया लिङ्गितो नित्यम् ॥

अर्थ—पदार्थ पर्यायनयकी अपेक्षासे उत्पाद विनाशको प्राप्त होता है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नित्य ही है।

दूसरे जो यह हेतु दिया था कि सत्व अर्थ क्रियासे व्याप्त अर्थ क्रियारूप यौग पद्यसे क्रम योगपद्य नित्यमें रहते नहीं अतः सत्व रूप हेतु विपक्षमें न रहनेसे साधु है सो हम इसका उल्टा भी कह सकते हैं यानी सत्व अर्थ क्रियासे व्याप्त है, अर्थ क्रियारूप यौग पद्यसे व्याप्त है और क्रमयोगपद्य क्षणिकमें रहता नहीं अतः विपक्षके समान पक्षमें भी हेतु नहीं रहता। इस लिए हेतु असिद्ध दोषसे दूषित है, क्योंकि "अप्रतपत्ता निश्चितोऽसिद्ध" यानी जिसकी सत्ताका अभाव हो या सत्ताका निश्चय न हो उसे असिद्ध कहते हैं सो यहां सत्व हेतु पक्षमें न रहनसे असिद्ध है।

इस प्रकार वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, बौद्ध, इनकी पदार्थ संख्याका खंडन किया। अब जैनियोंके स्वीकृत जीवादि ६ पदार्थोंका क्या क्या सामान्य विशेष स्वरूप है और कैसे सिद्धि है यह बतलाते हैं।

युगलात्मक संसारमें निष्पक्ष दृष्टिसे हम देखते हैं तो संसारका सार युग्म ही दिखलाई देता है। जहां देखते हैं युग्मकी ही भरमार है। गौण या मुख्य, स्त्री–पुरुष, पुत्र–पुत्री, लड़का–लड़की, सम्यक्त्व–मिथ्यात्व, एकान्तवादी–अनेकान्तवादी, उल्टा–सीधा, भला–बुरा, ऊंच–नीच जिस तरह इन युग्मोंका आधिपत्य है उसी तरह संसार दो ही पदार्थ दिखलाई एक जीव है और दूसरा अजीव। इसी युग्ममें संसारके सभी युग्म आकर मिल जाते हैं।

"जीव शब्दकी व्युत्पत्ति 'जीवति–प्राणान् धारयति' जो प्राणोंको धारण करे इस प्रकार की गई है। जिस तरह जीवद्रव्य संसारी मुक्तात्मा इन दो भेदवाला है उसी तरह अजीवके पांच भेद हैं–१ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश, ५ काल।"

अब उनसे पहिले जीवकी सिद्धि करते हुए पुद्गलादिकी आवश्यकता और सिद्धिका निरूपण करेंगे"।

जीवद्रव्यकी आवश्यक्ता और सिद्धि।

जीवके पूर्वोक्त दो भेदोंके अतिरिक्त और भी एकेन्द्री, दोन्द्री, तेन्द्री, चौइन्द्री, पंचेंद्री ये पांच भेद हैं। एकेन्द्रीके पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, तेजकाय, वनस्पतिकाय ये पांच भेद हैं। वनस्पतिके दो भेद हैं–साधारण०, प्रत्येक०, प्रत्येकके सप्रतिष्ठित

प्रत्येक० अप्रतिष्ठित प्रत्ये० ये दो भेद हैं। पृथ्वीके १ पृथ्वी, २ पृथ्वीकाय, ३ पृथ्वीकायिक, ४ पृथ्वीजीव इस प्रकार ४ भेद हैं इसी तरह अप् आदिक भी भेद मानने चाहिये।

सभी जीवतत्वको स्वीकार करते हैं किन्तु कुछ आधुनिक मुमुक्षु कोटिमें अपनेको सर्वोत्तम माननेवाले जीवके कुछ भेदोंको नहीं मानते यानी मनुष्य पशु आदिमें जीव मानते हैं, पृथ्वी जल आदिको जीवरूप नहीं मानते और इनसे भी बडी बडी सभ्यतावाले चार्वाक जीवतत्वको ही नहीं मानते, पृथ्वी जल आदिमें जीव न माननेवाले महाशय वनस्पतिमें भी अभी तक जीव नहीं मानते थे लेकिन कुछ दिनों पहिले डाक्टर वसुने बहुत प्रसन्न होकर और अपने श्रमकी सफलता मानते हुए यह प्रकाशित किया था कि वनस्पतिमें भी जीव है। डाक्टर वसुका कहना था कि जिस वनस्पतिमें जीव सिद्ध करनेके लिए मुझे अपनी सारी शक्ति लगानी पडी और बहुत समय व्यय करना पडा उस जीव सिद्धिको जैनाचार्य हजारों वर्ष पहिले अपने ग्रंथोंमें लिख गये हैं और इतना ही नहीं बल्कि उस जीवकी आयु, वर्ण जाति आदि सूक्ष्म २ बातोंका भी वर्णन कर चुके हैं जिसको सिद्ध करनेके लिए बडे,बडे विज्ञानवत्ताओंको भी बहुतसा समय शक्ति तथा जीवन समर्पण कर देनेकी आवश्यकता है। यह जैनाचार्योंके क्षयोपशम, ज्ञानशक्ति, तथा सदाचारका ही फल है।

जब कि भूतत्व वादियोंकी दृष्टि भी जीवसिद्धिकी तरफ झुकती जाती है और सफलता भी प्राप्त होती जाती है तो आशा होती है कि यदि और अधिक सूक्ष्म रीतिसे गवेषणा की जाय तो पृथ्वी अप आदिमें भी जीवकी सिद्धि हो जावगी। चार्वाक मतानुयायी जीवको नहीं मानते हैं अत उनके कुछ सिद्धांतका निदर्शन कराके मैं जीवसिद्धि करूंगा।

चार्वाक मतानुयायी कहता है कि पृथिव्यादि चार भूततत्वोंसे जो कि देहके आकारमें परिणत है चैतन्यकी उत्पत्ति होती है।

जैसे कि मदाके कारणोंसे मादक शक्ति उत्पन्न होती है, और ,जब ये भूततत्व अलग २ हो जाते हैं तो पृथिव्यादि रूप जो चैतन्य वह विनष्ट हो जाता है। स्वयं सिद्ध अनादिकालीन कोई जीवतत्व नहीं है। क्योंकि हमारे मतमें एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मान्य है क्योंकि अनुमानादि असत्य तत्वको ग्रहण करते हैं अत उन्हें प्रमाणता नहीं।

वेदानुयायी ब्राह्मणोंमेंसे कोई कर्मकाण्डकी प्रशंसा करते हैं और कोई ज्ञानकाण्डकी, यह सब अपने २ स्वार्थवश कोई किसी तरहका कोई किसी तरहका अर्थ निकालते हैं सो ठीक नहीं है।

नरक, स्वर्ग, मोक्ष मानना युक्तिरहित्य होनेसे मूर्खता द्योतक है। क्योंकि प्रत्यक्षसे न नर्क ही दिखता है और न स्वर्गादि ही, फिर आश्चर्यकी बात है कि इस अन परंपरा पर लोगोंका क्यों विश्वास होता आ रहा है। उक्तञ्च—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥

भूमि, वारि (जल), अनल (अग्नि), अनिल (वायु), ये ४ ही पदार्थ हैं इनसे ही जीवका निर्माण होता है।

किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मद शक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥

अर्थ—जैसे किणु आदिक मदोत्पादक कारणोंसे मद शक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार चार भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। देह और चैतन्य भेद मानना सर्व मिथ्या है क्योंकि मनुष्य जो कुछ अधिक मोटा होता है कहता है कि मैं मोटा हूं और इससे जो प्रतिपक्षी है वह अपने आपको कहता है कि मैं बहुत पतला हूं, यहां मैं शब्दोंसे मोटा शरीर और पतला शरीर इसका ही ग्रहण होता है। देहके सिवाय कि यका ग्रहण नहीं होता जिससे अदृश्य जीवकी कल्पना की जाय।

देहः स्थौल्यादि योगाच्च स एव आत्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी ॥

अर्थ—मेरा यह देह है, मेरा शरीर स्थूल या कृष है इत्यादि भेद प्रतिपाद वचन उपचरित ही हैं क्योंकि देहको छोड़कर आत्मा कोई वस्तु नहीं है।

यावज्जीव सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य जीवस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थ—जबतक कि जीवन है आनन्दसे जीना चाहिये, क्योंकि सब हो नाश अवश्यंभावी है और नाश होनेके बाद पुनः जीव आना नहीं जिससे कि फिर भोग सके।

तथा जीव स्वर्ग मोक्ष आदि आदि किसीकी भी सिद्धि नहीं होती। पुनः ब्राह्मणादि जीवादिका उपदेश देते हैं वे अपने स्वार्थवश होकर ही देते हैं।

ततश्च जीवनोपाय ब्राह्मणैः विहितस्त्विह ।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ॥

अर्थात्—धूर्त ब्राह्मण गणने अपने जीवनोपायके लिए नाना क्रियाओंका कथन किया है। यह उनका कथन है कि मनुष्यके मरनेके बाद प्रेतकार्य करने पड़ते हैं, क्योंकि विना प्रेतकार्य किये मनुष्य स्वर्ग सुख कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता।

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त निशाचरा।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृताम्॥

अर्थ—वेदके तीन ही मुख्य कर्ता है—भण्ड, धूर्त, राक्षस, क्योंकि जर्फरीतुर्फरी आदि वचन धूर्त, भण्ड, राक्षस पण्डितोंके वचन ही हैं। इस तरह जब जीवकी ही सिद्धि नहीं होती तो फिर अजीव किस तरह सिद्ध होगा, क्योंकि जो जीव नहीं उसे अजीव कहते हैं। अजीव जीवका प्रतिषेध रूप है, प्रतिषेध हमेशह विधि पूर्वक होता है। जब कि मुख्य जीव अजीव ये पदार्थ ही सिद्ध नहीं होते तो जीव पुद्गलकी गति स्थितिके सहायक धर्म, अधर्म द्रव्य, अवगाह देनेवाला आकाश, तथा इनको वर्तानेवाला काल, ये कैसे सिद्ध हो सकते हैं। और जीव अजीवके बन्ध निर्जरा मोक्षादि कैसे सिद्ध होंगे।

इस तरह जीव, धर्म, अधर्म, आकाशादि किसीके सिद्ध न होनेसे चार्वाकमत सिद्ध हो गया और उसीका [illegible] लोगोंको आश्रय लेना चाहिये। सांख्य मतानुयायी जीवको स्वीकार करके भी कूटस्थ नित्य मानते हैं। मीमांसक अकिञ्चित्कर मानते हैं, नैयायिक जीवको जड़ारूप मानते हैं, और बुद्धानुयायी ज्ञान सन्तान रूप ही मानते हैं। इत्यादि सिद्धांत माननेवाले परमार्थ सत्य सिद्धांतसे बहुत दूर पड़े हुए हैं।

प्रथम चार्वाक मतका खण्डन किया जाता है—पृथ्वी, अप, वायु, और अग्निसे यदि जीव बनता होता तो पृथ्वी आदिके गुण उसमें अवश्य पाये जाने चाहिए क्योंकि कारणके धर्म कार्यमें अवश्य आया करते हैं, यदि ऐसा न हो तो मिष्ट गुणके द्वारा बनी हुई चीज कडुई भी लगनी चाहिये। और विषके द्वारा मनुष्यको नशा भी नहीं आना चाहिये इत्यादि तथा ऐसा होनेसे पदार्थ व्यवस्थाका व्याघात हो जायगा। अत कार्यमें कारणके धर्म अवश्य आना चाहिये।

जब कि पृथ्वीको अपेक्षा काठिन्य गुणात्मकत्व आदि गुण, जलका द्रव्यत्वादि, वायुकी ईरणादि, अग्निका दाहकत्वादि गुण यदि धर्म पाये ही नहीं जाते तो कभी भी यह बात मान्य नहीं हो सकती कि जीव चार भूतोंसे बना है। अन्यथ जैसे कि कारणके धर्म कार्यमें अवश्य रहने चाहिये उसी तरह कार्यके धर्म भी उसके कारणमें अवश्य रहने चाहिये। नहीं तो यह कार्य इन्हीं कारणोंका है इसका निश्चय कैसे हो सकेगा।

जैसे यहां पृथ्वी आदिमें कोई धर्म भी नहीं पाया जाता। मनुष्यको जो ज्ञान होता

है, स्मृति होती है, प्रत्यभिज्ञान होता है, सुख दुःखका अनुभव होता है, यह सब पृथ्वी आदिमें नहीं पाये जाते।

(शङ्काकार)—अलग अलग पृथ्वी आदिमें ये धर्म नहीं पाये जाते किन्तु जब पृथ्वी आदि सब मिल जाते हैं तब इनमें इन सब धर्मोंका उत्पाद हो जाता है। जैसे कि मनसिल (स्फोटक द्रव्यविशेष) को आप अलग चाहे जितनी बारीक पीस सकते हैं और उसी तरह पटासल (स्फोटक द्रव्यविशेष) को भी बहुत बारीक पीस सकते हैं लेकिन यदि आप उन दोनोंको एकत्रित करके पीसना चाहें तो पीसनेकी बात तो दूर रहे आप उस मिली हुई मनसल और पटासलकी धूलिके ऊपर स्वल्प आघात भी नहीं कर सकते क्योंकि उन दोनोंके मिश्रणसे उनमें दाहकत्व शक्ति आ जाती है। यहां जिस तरह अलग २ दाहकत्व शक्ति नहीं भी थी लेकिन मिलाप होनेसे आगई। दूसरा दृष्टान्त यह भी दिया जा सकता है कि जैसे ताजी दहीमें स्वतन्त्र जीवके शीघ्र पैदा करनेकी शक्ति नहीं है और भिगोहों (दालके बने हुए) में भी स्वतन्त्र शीघ्र जीव पैदा करनेकी शक्ति नहीं है, लेकिन उन दोनोंका मेल करनेसे कुछ समय बाद ही या मलकरके मुंह तक लेजाते ही जीव पड जाते हैं। उसी तरह यद्यपि पृथ्वी आदिमें अलग २ ज्ञानादि उद्घाटनकी शक्ति नहीं है किन्तु संयोग होनेपर हो जाती है।

यह कहना भी अविचारितरम्य ही है क्योंकि आपने जो दृष्टान्त दिये वे दोनों ही दृष्टान्ताभास हैं। आपने जो यह कहा कि जैसे अलग २ मनसल पटासलमें दाह करनेकी शक्ति नहीं है लेकिन मिलनेसे होजाती है यह सर्वथा असत्य है। आपको उन दोनोंमें पृथक् २ भी अवश्य दाहकत्व शक्ति माननी पडेगी, क्योंकि जिनमें पृथक् २ ही शक्ति नहीं होती उनमें इकट्ठे होने पर कैसे आ सकती है। जिस नींब, कमीर, विष, हलाहलमें पृथक् २ माधुर्य शक्ति नहीं है तो मिलने पर भी नहीं आ सकती। यदि आप ऐसा कहें कि पृथक् २ पृथ्वी आदिमें भी ज्ञानादि शक्तियां रहती हैं तो पृथ्वीसे निर्मित घर भी ज्ञानवान् होना चाहिये। जलके द्वारा बनी हुई बर्फ भी ज्ञानवती होनी चाहिये अतः पृथ्वी आदिमें ज्ञानादि शक्ति न होनेसे पृथ्वी आदिके द्वारा ज्ञानवान् जीवकी कदापि उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। और जो आप (चार्वाक) यह कहते हैं कि "जीव नहीं है" सो यहां जो जीवको पक्ष बनाया है और नास्तित्वको साध्य बनाया है। पक्ष हमेशह प्रसिद्ध हुआ करता है लेकिन जीव जब आपके यहां माना ही नहीं जाता तो प्रसिद्ध नहीं हो सकता, और प्रसिद्ध न होनसे जीव पक्ष कोटीमें नहीं लाया जा सकता फिर उसे पक्ष बनाना अन्याय है।

(शङ्काकार) आप जैनी लोग तो जीवको प्रसिद्ध ही मानते हैं अतः हम आपके द्वारा प्रसिद्ध जो जीव है उसका निषेध कर देंगे, अतः आप यह नहीं कह सकते कि

तुमने (चार्वाक) बिना प्रसिद्ध जीवको पक्ष बना लिया। हमने जीवकी प्रसिद्धता आपसे जानली और प्रसिद्ध होनेसे उसे पक्षकोटीमें रहकर नास्तित्व साध्य किया।

(जैन) आपने जो हमारे माने हुए प्रसिद्ध जीवको माना सो प्रमाण रूपसे या अप्रमाण रूपसे। यदि कहोगे कि प्रमाण रूपसे माना तो फिर नहीं कह सकते कि आप किस बुद्धिमत्तासे उसका खण्डन कर रहे हैं। यदि अप्रमाण रूपसे माना तो वह आपके लिए अप्रमाण ही है फिर आप उस अप्रमाणको अप्रसिद्ध होनेसे कैसे पक्ष बना सकते हैं।

यदि आप कहें कि हम अनुपलब्धि हेतुसे जीवका अभाव सिद्ध करेंगे सो आप ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि आप अनुमान तो मानते नहीं और साधनसे जो साध्यका ज्ञान करना है उस ही अनुमान कहते हैं।

यदि आप कहें कि हम व्यवहारके लिए अनुमान मानते ही हैं तो हम आपसे यह पूछते हैं कि आपने जीवके अभावको अनुपलब्धिसे जाना तो आप कहें कि आपने अनुपलब्धिको किससे जाना। यदि कहेंगे कि अभावसे तो अन्योन्याश्रय हो जायगा क्योंकि जीवका अभाव सिद्ध अनुपलब्धिसे हो और अनुपलब्धि अभावसे सिद्ध हो।

तीसरे अनुपलब्धि रूप हेतुकी अभावके साथ व्याप्ति ही नहीं है क्योंकि करान् आदानमुपलब्धि' या 'स्व चक्षुषा प्रत्यक्ष उपलब्धि' इससे ग्रहण करना उपलब्धि कहा जासकता है या अपनी चक्षुसे प्रत्यक्ष करना उपलब्धि कहा जा सकता है और उसको अनुपलब्धि किन्तु परमाणु न तो हाथसे ग्रहण किया जा सकता है और न चक्षुसे प्रत्यक्ष ही किया जासकता अतः अनुपलब्धिका उक्त दोनों अर्थोंमेंसे कोई एक अर्थ करनेसे या दोनों ही अर्थ करनेसे परमाणुमें अनुपलब्धि हेतु रह जाता है लेकिन परमाणुका अभाव तो है नहीं क्योंकि यदि परमाणुका अभाव हो जायगा तो परमाणुका समूह स्कन्ध नहीं मिल सकता और स्कन्ध न मिलनेसे संसारको सर्व शून्यताकी प्राप्ति आ जायगी।

चतुर्थ दोष यह है कि अनुपलब्धि रूप हेतु प्रत्यक्षसे ही असिद्ध है। क्योंकि जीवका स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष होता ही है। स्वसंवेदन भी सुख दुःखादि रूप संवेदनसे प्रसिद्ध ही है।

(शङ्का)—ज्ञान अस्वसंविदित होते हैं वेद्य होनेसे। जो जो वेद्य होते हैं वे वे अस्वसंविदित होते हैं। जैसे कि घट ज्ञानवेद्य है (उपनय) अतः अस्वसंविदित है (निगमन) और जब कि ज्ञान अस्व संविदित है तो उसके द्वारा जीवकी किसतरह सिद्धि नहीं होसकती है।

ऐसा कहना भी प्रलाप मात्र है क्योंकि ज्ञानकी स्वसंविदितता प्रमाणसे प्रसिद्ध है। ज्ञान स्वसंविदित है। अप्रमाणरूप अपनेसे अतिरिक्त कारणान्तरोंकी अपेक्षाका अभाव होनेसे यहाँ हेतुको असिद्ध करनेवाला भी सत्यवादी नहीं कह जा सका क्योंकि उक्त हेतु

है, स्मृति होती है, प्रत्यभिज्ञान होता है, सुख दु:खका अनुभव होता है, यह सब पृथ्वी आदिमें नहीं पाये जाते।

(शङ्काकार)—अलग अलग पृथ्वी आदिमें ये धर्म नहीं पाये जाते किन्तु जब पृथ्वी आदि सब मिल जाते हैं तब इनमें इन सब धर्मोंका उत्पाद हो जाता है। जैसे कि मस्सन (स्फोटक द्रव्यविशेष) को आप अलग चाहे जितनी बारीक पीस सकते हैं और उसी तरह पटासन (स्फोटक द्रव्यविशेष) को भी बहुत बारीक पीस सकते हैं लेकिन यदि आप उन दोनोंको एकत्रित करके पीसना चाहें तो पीसनेकी बात तो दूर रहे आप उस मिली हुई मस्सन और पटासनकी धूलिके उपर स्वल्प आघात भी नहीं कर सकते क्योंकि उन दोनोंके मिलनेसे उनमें दाहकत्व शक्ति आ जाती है। यहां जिस तरह अलग २ दाहकत्व शक्ति नहीं भी थी लेकिन मिलाप होनेसे आगई। दूसरा दृष्टांत यह भी दिया जा सकता है कि जैसे तानी महीमें स्वतन्त्र जीवके शीघ्र पैदा करनेकी शक्ति नहीं है और भिगोहों (दाहक बन हुए) में भी स्वतन्त्र शीघ्र जीव पैदा करनेकी शक्ति नहीं है, लेकिन उन दोनोंका मद्य करनेसे कुछ समय बाद ही या मद्य करके गुड़ तक लेजाते ही जीव पड़ जाते हैं। उसी तरह यद्यपि पृथ्वी आदिमें अलग २ ज्ञानादि उद्घाटनकी शक्ति नहीं है किंतु संयोग होनेपर हो जाती है।

यह कहना भी अविचारितरम्य ही है क्योंकि आपने जो दृष्टांत दिये वु दोनों ही दृष्टांताभास हैं। आपने जो यह कहा कि जैसे अलग २ मस्सन पटासनमें दाह करनेकी शक्ति नहीं है लेकिन मिलनेसे होजाती है यह सर्वथा असत्य है। आपको उन दोनोंमें पृथक् २ भी अवश्य दाहकत्व शक्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि जिनमें पृथक् २ ही शक्ति नहीं होती उनमें इकट्ठे होने पर कैसे आ सकती है। जिम नीम, कनीर, विष, हलाहलमें पृथक् २ माधुर्य शक्ति नहीं है तो मिलने पर भी नहीं आ सकती। यदि आप ऐसा कहें कि पृथक् २ पृथ्वी आदिमें भी ज्ञानादि शक्तियां रहती हैं तो पृथ्वीसे निर्मित घर भी ज्ञानवान् होना चाहिये। जलके द्वारा बनी हुई बर्फ भी ज्ञानवती होनी चाहिये अत पृथ्वी आदिमें ज्ञानादि शक्ति न होनेसे पृथ्वी आदिके द्वारा ज्ञानवान् जीवकी कदापि उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। और जो आप (चार्वाक) यह कहते हैं कि "जीव नहीं है" तो यहां जो जीवको पक्ष बनाया है और नास्तित्वको साध्य बनाया है। पक्ष हमेशह प्रसिद्ध हुआ करता है लेकिन जीव जब आपके यहां माना ही नहीं जाता तो प्रसिद्ध नहीं हो सकता, और प्रसिद्ध न होनेसे जीव पक्ष कोटीमें नहीं लाया जा सकता फिर उसे पक्ष बनाना अन्याय है।

(शङ्काकार) आप जैनी लोग तो जीवको प्रसिद्ध ही मानते हैं अत हम आपके द्वारा प्रसिद्ध जो जीव है उसका निषेध कर देंगे, अब आप यह नहीं कह सकते कि

तथा च बहुतसे अनुमान जीवके साधक हैं। जैसे चक्षु आदि इन्द्रिया कर्ता जो जीव उसके द्वारा योजित होकर काम करती हैं, क्योंकि वे (चक्षु आदि) करण होनेसे वसुरा के समान यानी वसुरा जैसे बढ़ईसे योजित होकर काम करता है उसी प्रकार इन्द्रिया भी जीवके द्वारा प्रेरित हो कर कार्यमें लगती हैं।

सांख्य जीवको मानते हैं परन्तु कूटस्थ नित्य मानते हैं। यह उनका मानना भी युक्तिबाधित है। क्योंकि जीवके सुख दु खादिरूप पर्यायोंसे सदा विकृति होती रहती है। कभी सुख है तो कभी दु ख, कभी जानता है तो कभी अजानता। जब जीवपर्यायोंसे विकृत होता रहता है तो उसे नित्य कैसे कहते हैं।

(शङ्का) आपने सुख दु खादिरूप पर्यायोंसे जीवको विकृत सिद्ध करके नित्यताका खंडन किया है सो ठीक नहीं है क्योंकि सुख दु ख आदि सब पर्यायें जीवसे भिन्न रहती है। यदि अभि न्नमानोगे तो मोक्षके जीवको भी सुखी व दु खी मानना चाहिये।

यह भी बिना विचारे सुखमस्तीति वाक्यका अनुकरण करना है। क्योंकि यदि जीवसे सुखदु खआदि भिन्न मानेंगे तो यह इस जीवके सुखदु ख हैं, यह कैसे माना जा सकता है। और नित्य अनुपकारी होता है अत वहा सुखादिका सपवाय भी नहीं मानसकते। और यदि जीवका उपकार भी मानेंगे तो आप उसे जीवसे भिन्न मानेंगे तो फिर वह प्रश्न जो कि सुखदु खके पृथक् माननेपर उठा था उठेगा। और यदि अभिन्न उपकार मानेंगे तो फिर विकृत होनेसे नित्यता नहीं बनसकती और जो आपने मुक्त जीवको भी सुखी या दु खी होनेका प्रसग दिया था सो भी ठीक नहीं है क्योंकि सुखदु ख आदि जीवसे अभिन्न है इसका जो आपने अर्थ निकाला सो आपकी बुद्धिकी बलिहारी है। अभिन्न कहनेसे आपने सर्वथा अभिन्नका पक्ष ग्रहण करलिया।

अब हम आपसे पूछते हैं कि सुखदु खसे आप क्या लेते हैं? शारीरिक सुख या आत्मीय सुख जिनको कि दूसरे शब्दोंमें ऐहिक और पारलौकिक सुख भी कह सकते हैं। यदि सुखदु खसे शरीरके द्वारा होनेवाले सुखदु ख लेते हैं जो कि आत्माको शरीरकी अवस्थामें ही अनुभूत होते हैं तो कारणके विनाश होनेपर कार्य विनष्ट होजाता है अत शरीरसे होनेवाला सुखदु ख भी अपने कारण सत्ता और असाताके अलग होनेपर अलग हो जायगा। अत मोक्षमें रहनेवाले जीवको सुखी या दु खीपनेका प्रसग नहीं आसकता। असाता वेदनीयका प्रमत्त गुणस्थान तक बन्ध होता है तथा साताका बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है। असाता व साता दोनोंका ही १४ वें के कुछ समयोंतक उदय रहता है, अन्तके समयोंमें साता असातामेंसे एकका भी उदय नहीं रहता तथा साता असाता दोनोंका सत्व

सिद्ध ही है, कि ज्ञान अपने प्रकाशनके लिए अपनेसे भिन्न कारणान्तरोंकी अपेक्षासे रहित है। प्रत्यक्ष अर्थका गुण होते हुए अदृष्ट, अनुपाधिकरण होनेसे प्रदीपके समान जैसे दीप अपने आपको तथा दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करता है।

दूसरे यदि ज्ञानको दूसरे ज्ञानसे वेद्य मानोगे तो दूसरा ज्ञान तीसरे ज्ञानसे वेद्य मानना पड़ेगा। ज्ञान होनसे इसी प्रकार तृतीयादि ज्ञान, अ व अ व ज्ञानोंके माननेमें ही लगे रहेंगे तो प्रकृत पदार्थके जाननेसे वंचित ही रह जायगे।

तृतीय दोष यह है कि परोक्षज्ञानके द्वारा पदार्थोंका प्रकाशन भी नहीं हो सकता। यदि परोक्षज्ञानके द्वारा भी पदार्थोंका प्रकाशन हुआ करे तो दूसरे व्यक्तिका ज्ञान भी इसके लिए परोक्ष है अत उस ज्ञानसे भी पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिये।

अपने परोक्ष ज्ञानसे पदार्थोंका प्रकाशन होता क्योंकि वह ज्ञान समवाय सम्बन्धसे अपनी आत्मामें रहता है और दूसरेके परोक्ष ज्ञानसे पदार्थ प्रकाशन नहीं होसकता है क्योंकि वह ज्ञान अपनी आत्मामें नहीं रहता। यदि एसा कहेंगे तो यह आपका कहना भी विचारशून्य है क्योंकि आप ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न मानते हैं।

चार्वाक तो उक्त कथन कदापि कर ही नहीं सकता क्योंकि वे आत्मा समवाय आदि कुछ नहीं मानते हैं सिवाय पृथ्वी आदि ४ भूतोंके।

उक्त सर्व कथनका सार यह है ज्ञान स्वसंवेदन मानना चाहिये और उस स्वसंवेदन ज्ञानसे जीवकी सिद्धि हो ही जायगी।

और भी देखा जाता है कि उसी समयका उत्पन्न बालक बिना किसीके उपदेशके अपनी माताके स्तनसे दूध पी लिया करता है। बालकके दूध पीनेकी अभिलाषा बिना प्रत्यभिज्ञानके हो नहीं सकती और प्रत्यभिज्ञान बिना स्मरणके नहीं होता, अतः पूर्वानुभव अवश्य ही मानना चाहिये। कोई२ भूत आदि हो जाते वे किसी न किसी आदमीके ऊपर आकर अवश्य बोलते हैं कि मैं पहिले, वह था " अब वहां आदि तथा कोई कोई बच्चा वृद्ध युवा पुरुष भी अपने पूर्व भवकी सब बातें बतादिया करता है। यदि ४ भूतसे जीव बने होते तो शरीरके नष्ट होनेके साथ साथ ही जीव भी नष्ट हो जाता लेकिन दूसरे भवमें तक उसका सम्बन्ध जाता है तो ज्ञात होता है कि च्यार भूतसे जीव नहीं बना है।

उक्तञ्च—

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टे भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥

उसी दिनके उत्पन्न हुए बालककी स्तनमें दूध इच्छा होनेसे, राक्षस रूपमें किसीको आजानेसे, पूर्व भवकी स्मृति होनेसे और पंचभूतोंका अनन्वयपना होनेके कारण जीव अनादिसिद्ध मानना ही चाहिये।

तथा ॥ वसूतसे अनुमान जीवके साधक हैं। जैसे चक्षु आदि इन्द्रिया कर्ता जो जीव उसके द्वारा योजित होकर काम करती है, क्योंकि व (चक्षु आदि) करण होनेसे वसूला के समान यानी वसूला जैसे बढ़ईसे योजित होकर काम करता है उसी प्रकार इन्द्रिया भी जीवके द्वारा प्रेरित हो कर कार्यमें लगती हैं।

साख्य जीवको मानते हैं परन्तु कूटस्थ नित्य मानते हैं। यह उनका मानना भी युक्तिबाधित है। क्योंकि जीवके सुख दु खादिरूप पर्यायोंसे सदा विकृति होती रहती है। कभी सुख है तो कभी दु ख, कभी जानता है तो कभी अजानता। जब जीवपर्यायोंसे विकृत होता रहता है तो उसे नित्य कैसे कहते हैं।

(शङ्का) आपने सुख दु खादिरूप पर्यायोंसे जीवको विकृत सिद्ध करके नित्यताका खडन किया है सो ठीक नहीं है क्योंकि सुख दु ख आदि सब पर्यायें जीवसे भिन्न रहती है। यदि अभिन्न मानोगे तो मोक्षके जीवको भी सुखी व दु खी मानना चाहिये।

यह भी बिना विचारे मुखमस्तीति वक्तव्यका अनुकरण करना है। क्योंकि यदि जीवसे सुखदु ख आदि भिन्न मानेंगे तो यह इस जीवके सुखदु ख हैं यह कैसे माना जा सकता है। और नित्य अनुपकारी होता है अत वहा सुखादिका सम्बन्ध भी नहीं मानसकते

और यदि जीवका उपकार भी मानेंगे तो आप उसे जीवसे भिन्न मानेगे तो फिर वह प्रश्न जो कि सुखदु खके पृथक् माननेपर उठा था उठेगा। और यदि अभिन्न उपकार मानेंगे तो फिर विकृत होनेसे नित्यता नहीं बनसकती और जो आपने मुक्त जीवको भी सुखी वा दुःखी होनेका प्रसग दिया था सो भी ठीक नहीं है क्योंकि सुखदु ख आदि जीवमें अभिन्न है इसका जो आपने अर्थ निकाला सो आपकी बुद्धिकी बलिहारी है। अभिन्न कह देनेसे आपने सर्वथा अभिन्नका पक्ष ग्रहण करलिया।

अब हम आपसे पूछते हैं कि सुखदु खसे आप क्या लेते हैं शारीरिक सुख या आत्मीय सुख जिनको कि दूसरे शब्दोंमें ऐहिक और पारलौकिक सुख भी कह सकते हैं। यदि सुखदु खसे शरीरके द्वारा होनेवाले सुखदु ख लेते हैं जो कि आत्माको शरीरकी अवस्थामें ही अनुभूत होते हैं तो कारणके विनाश होनेपर कार्य विनष्ट होजाता है अत शरीरसे होनेवाला सुखदु ख भी अपने कारण साता और असाताके अलग होनेपर अलग हो जायगा। अत मोक्षमें रहनेवाले जीवको सुखी या दु खीपनेका प्रसग नहीं आसकता। असाता वेदनीयका प्रमत्त गुणस्थान बन्ध होता है तथा साताका बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है। असाता व साता दोनोंका हो १४ वें के कुछ समयतक उदय रहता है, अन्तके समयोंमें साता असातामेंसे एकका भी उदय नहीं रहता तथा साता असाता दोनोंका सत्व

भी १४ वें गुणस्थानतक रहता है। अन्तके द्विचरममें सात की व्युच्छित्ति हो जाती है और अन्त समयमें असाताकी भी सत्त्व व्युच्छित्ति हो जाती है।

मुक्त जीव जब गुणस्थानातीत यानी गुणस्थानसे रहित है तो जब कि साता असाताका बन्ध, उदय, सत्त्वका भाव गुणस्थानोंमें ही पाया जाता है, सिद्ध अवस्थामें किसी भी कर्मका बन्धादि कुछ भी नहीं पाया जाता तो वहा सुखदुःखकी कल्पना किसीतरह भी नहीं हो सकती।

अब यदि आप द्वितीय पक्ष आत्मीय सुखका लेंगे तो निरपेक्ष दृष्टिसे आत्मीय सुखका कारण ज्ञान है वह ज्ञान मुक्त अवस्थामें सर्वथा निरावरण हो जाता है अतः वहा अनंत सुख हो जाता है। दुःखका कोई कारण वहां उपलब्ध नहीं है जिससे कि सुखकी तरह दुःख भी माना जाय। उक्त युक्तिसे सुख दुःखका मोक्षमें भी प्रसंग देकर आपका मनोरथ सिद्ध नहीं कर सके अतः जीवको सर्वज्ञ नित्य मानना सर्वथा भ्रम मात्र है।

सांख्य लोग भी जीव मानते हैं लेकिन अकिंचित्कर मानते हैं यह उनका मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि संसारी अवस्थामें जीव कर्मका बन्ध करता ही है और जब कर्मका बन्ध करता है तो उसका फल भी अनेक प्रकारसे भोगता ही है तथा सांख्य जो प्रकृतिको कर्ता और पुरुषको भोक्ता मानता है वह पहिले दिखाया जा चुका है।

अतः सांख्य सिद्धान्त भी मान्य नहीं कहा जा सकता।

अब कोई जो जीवकी सन्तानको ही जीव मानते हैं उन्हें विचारना चाहिये कि सन्तान बिना सन्तानीके नहीं रह सकती अतः सन्तानी अवश्य मानना चाहिये। सन्तानीसे सन्तानको पृथक् मानेंगे तो बहुतसे दोष आवेंगे। आत्माको जो व्यापक मानते हैं उनका मत भी परीक्षासह नहीं है।

(शङ्काकार) व्यापक आत्माको सिद्ध करनेके लिए यह अनुमान जब निर्दोष है तो आत्माको व्यापक क्यों नहीं मानना चाहिये। आत्मा व्यापक है। द्रव्य होते हुए अमूर्त होनेसे, जो जो द्रव्य होते हुए अमूर्त है वह व्यापक है जैसे आकाश द्रव्य होनेपर अमूर्त आत्मा है अतः व्यापक मानना चाहिए, यह अनुमान भी ठीक नहीं है क्योंकि अमूर्त होनेसे यहांपर अमूर्तका क्या अर्थ है। रूपादि जिसमें हो उसे मूर्त, और तद्विरुद्ध अमूर्त। यदि यह अमूर्तका अर्थ करोगे तो मनमें भी हेतु चला जायगा क्योंकि मन द्रव्य होकर रूपादि रहित है ही अतः मनको भी व्यापकता मानना चाहिये अतः उक्त हेतु अनैकान्तिक होनेसे अनुमान ठीक नहीं है। यदि आप सब जगह न रहना मूर्त और सब जगह रहना अमूर्त मानते हैं तो हेतु भी व्यापकतार्थक है और साध्य भी व्यापकतार्थक है अतः साध्यसम होनेसे पुनः भी हेतु साध्य नहीं कहा जा सकता। व्यापकताका बहुत खंडन

किया जा सकता है लेकिन यहं प्रकरण प्रसंगगत है प्रधान नहीं अत इस विषयमें इतना ही कहता हूं । कोई कोई महाशय आत्मा वटकीणका (वटबीजका फल) के समान मानते हैं उनका यह मानना न्याययुक्त नहीं है । क्योंकि सुखका सर्वाङ्ग रूपसे अनुभव होता है । आत्मा छोटी होती तो जहां २ पर आत्मा रहती वहीं वहीं आनन्द होता लेकिन सुख सम्पूर्ण सम्पूर्णमें होता है । कोई २ महाशय आत्माकी आशुवृत्ति (शीघ्रगति) बताकर उक्तशंका निराकरण करदिया करते हैं लेकिन यदि आत्माकी शीघ्र गति होगी तो भी एक समयमें आत्मा एक ही जगह रहेगी और जब एक स्थानपर आत्मा हो तो उस जगह और दूसरी जगहपर जब आत्मा पहुंच जाय तो दूसरी जगह सुख होना चाहिये अत सुखके व्यवधानका दोष आता है इस लिए आत्मा छोटी भी नहीं माननी चाहिये किन्तु अपने २ शरीरके परिमाण मानना चाहिये । श्री नेमिचन्द्राचार्यने आत्माका स्वरूप ऐसा कहा है कि—

अट्ठविहकम्म वियला सीदीभूदा णिरञ्जणाणिच्चा ।
अट्ठगुणाकिद किचा लोयग्गणि वासिणो सिद्धाः ॥

शुद्ध आत्मा आठ प्रकारके कर्मों (ज्ञान, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय) से रहित है । शान्तिस्वरूप (वीतराग) है क्योंकि आत्माकी शान्तिको रागद्वेष सहित अवस्था भी भंग करती है, मिथ्या दर्शनादिसे रहित है नित्य है । अष्ट गुण (ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्म, अगुरुलघु) कर सहित हैं । कृतकृत्य यानी कुछ कार्य करनेको बाकी नहीं है । और लोकके अग्रभागमें स्थित है तथा सिद्ध है ।

यहां जो आत्माके आठ कर्मोंसे रहित आदि विशेषण दिये हैं वे दूसरोंकी परिकल्पित तथाविध आत्माके निराकरणके लिए हैं क्योंकि विशेषण हमेशह व्यवच्छेद रूप होता है जैसे कि काला घोडा । यहां जो घोडेका काला विशेषण है वह अन्य लाल पीले भूरे चित कबर आदि रंगोंसे युक्त घोडोंसे काले घोडेको अलग बतलाता है ।

दूसरे लोग शुद्ध आत्माका ऐसा ऐसा स्वरूप मानते हैं—

सदाशिव सदामुक्तः साख्यो मुक्त सुखोज्झितं ।
मस्करी किलमुक्तानां मन्यते पुनरागतिम् ॥
क्षणिक निर्गुण चैव शुद्धो योगश्च मन्यते ।
कृतकृत्य तमीशानो मण्डली चोर्ध्वगामिनं ॥

अर्थ —भावार्थ —सदाशिव आत्माको हमेशह कर्मरहित अनुपायसिद्ध मानते हैं उनका स्वरूप सिद्धान्त यही है कि आत्मा कर्मोंका प्रेरक नहीं है सदा मुक्त होनेसे, वह (आत्मा) सदामुक्त है, अनुपाय सिद्ध होनेसे, आत्मा बिना उपायसे सिद्ध है आदि सिद्ध होनेसे, वह

अनादि सिद्ध है तनुकरण भुवनादिके बनानेका निमित्त होनेसे, तनुकरण भुवनादि ईश्वर हेतुक हैं कार्य होनेसे, इस अनुमान मात्रसे वे आत्माको सदा मुक्त सिद्ध करते हैं लेकिन जिस तरह मकानकी कमजोर नीव खुद ही नहीं गिरती है बल्कि और अपने ऊपरके मकानको भी लेकर गिरती है उसी तरह कार्यत्व हेतु असिद्ध होकर आत्माके कर्मरहितत्वका पतन करा देता है क्योंकि कार्यत्वका आपको क्या अर्थ अभीष्ट है। १ स्वकारण सत्ता समवाय, २ अभूत्वाभावित्व, ३ अक्रियादर्शिनोऽपिकृतबुद्ध्युत्पादकत्व, ४ कारणान्तरानुविधायित्व, इन चार विकल्पोंके और भी उत्तरविकल्प बहुतसे होते हैं। विद्यानन्दि प्रमेयकमलमार्तण्डमें खण्डन किया है। यहां लेख वृद्धिके भयसे नहीं लिखा जाता है अतः आत्माको अकर्मकत्वकी सिद्धि नहीं होती। सांख्य मुक्तात्माको मुक्त रहित मानते हैं। पहिले इसका खडन किया जा चुका है इसीलिए आचार्यने शुद्ध जीवके लक्षण प्रतिपादन करते समय शौर्तीभूत विशेषण दिया है। मस्करी मुक्त जीवका पुनः आगमन मानते। इसका निषेध करनेके लिए आचार्यने निरंजन विशेषण दिया है। बुद्ध व योगानुमती आत्मको क्षणिक तथा निर्गुण मानता है इसीको निषेध करनेके लिए आचार्यने नित्य विशेषण दिया है। ईश्वरवादी ईश्वरको कर्तृत्व मानते हैं इसके निषेधके लिए कृतकृत्य विशेषण दिया है। मण्डली मतवाले जीवकी हमेशाह ऊर्ध्वगति ही मानते हैं इसके निषेधके लिए आचार्यने लोकाग्रनिवासी ऐसा विशेषण दिया है।

इस उक्त प्रकरणमें जीवकी सिद्धि परमतानुयायियोंके असत्य कल्पित लक्षणके खण्डन पूर्वक की गई है और आवश्यकता भी बतलाई है।

पुद्गलकी आवश्यकता और सिद्धि.

अब अजीवका वर्णन क्रमप्राप्त है अतः उसका वर्णन करना चाहिये।

अजीवके पांच भेद हैं—१ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश, ५ काल। अब प्रत्येकका वर्णन करते हैं। इन पांच भेदोंका पृथक् पृथक् वर्णन करना ही अजीवका वर्णन होगा क्योंकि अवयवके वर्णनसे अवयवीका वर्णन हो जाता है जैसे तना, शाखा, टहनी, पत्ता आदि वृक्ष सम्बन्धी अवयवोंका वर्णन करना ही वृक्षका वर्णन है।

पुद्गल द्रव्यका लक्षण "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" ऐसा किया है। जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णसे सहित हो उसे पुद्गल कहते हैं।

पूरयन्ति गलयन्ति इति पुद्गलाः यह पुद्गल शब्दकी निरुक्ति है।

स्पर्शादिकी निरुक्ति निम्न प्रकार है। "स्पृश्यते स्पर्शः, यानी जो छूआ जाय, इसी

प्रकार "रस्यते रसनमात्र वा रस, गन्ध्यते गन्धमात्र वा गन्ध, वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्ण" की निरुक्ति या है।

पुद्गल द्रव्य अनन्तगुण समूह स्वरूप है। यहां भी जीव द्रव्यकी तरह उत्पाद -व्यय ध्रौव्यकी सिद्धि होनेसे द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित होता है। जीव तथा पुद्गल द्रव्यका अनादिकालसे आपसमें सम्बन्ध होता चला आ रहा है जैसे कि सुवर्ण जो कि खानसे तुरन्त निकाला जाता है, किट्टिमा कालिमा अंतरङ्ग मलसे लिप्त होता है और अग्नि आदिके संसर्गसे वह मैल दूर कर दिया जाता है उसी प्रकार जब इस जीवके पूर्वोपार्जित कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है और संवरके बलसे आनेवाले कर्मोंका आना रुक जाता है तब सम्पूर्ण कर्मका क्षय हो जानेसे जीवकी मुक्ति हो जाती है तो संसारी अवस्थाका जीवकी पूर्व पर्यायका विनाश होनेसे व्यय, नवीन पर्यायके उत्पन्न होनेसे उत्पाद और जीवत्व सदा ही रहता है अत ध्रौव्य, ये तीनों ही गुण जीव द्रव्यमें अच्छी तरहसे घटित हो जाता है अतः द्रव्यका लक्षण जीव द्रव्यमें सिद्ध होता है।

(शङ्काकार) जब कि कर्मोंके अभाव होनेसे मुक्त जीवोंके शरीर रहते ही नहीं हैं तब फिर मुक्त जीवमें उत्पादादि कैसे होंगे।

यह भी ठीक नहीं है क्योंकि मुक्त जीवोंके अगुरुलघु गुणके द्वारा षट् स्थान पतित हानि वृद्धिसे उत्पादादि बन जावेंगे।

संसारी जीवोंमें इस तरह भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य बन सके हैं।

पुद्गलोंमें पूर्वपर्यायके विनाशसे और उत्तर पर्यायके प्रादुर्भावसे उत्पाद व्यय बन जाते हैं। कभी भी पुद्गलका सर्वथा विनाश नहीं होता अत ध्रौव्यता भी रहती ही है।

दूसरे जो पुद्गलमें स्पर्श रस गन्ध वर्ण गुण पाये जाते हैं व सर्वथा एकसे नहीं रहते, स्पर्श कभी कोमलता, कभी कठिनता, उष्णता, शीतता, लघुता, गुरुता, स्निग्धता, रूक्षता इन आठ तरहसे परिणत होता रहता है। रसमें चिरपरा, कड़ुआ, खट्टा, मीठा, कषायला ये पांच भेद हैं तथा गन्धमें दुर्गन्ध सुगन्ध इस तरह दो। वर्णमें नील, पीत, श्वेत, श्याम, लाल ये पांच भेद हैं। इन बीस भेदोंके सिवाय विस्तारसे उत्तर भेद संख्यात असंख्यात अनन्त भी हो सकते हैं।

(शङ्का) जब कि लोक असंख्यातप्रदेशी है तो उसमें अनन्त प्रदेशवाला पुद्गल स्कंध कैसे आ सकता है।

ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि एक एक आकाशके प्रदेशमें भी सूक्ष्म परिमाणसे परिणत अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध आ सकता है ऐसा आगममें कहा है। पुद्गल द्रव्यकी शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत ये

मुख्य पर्याय हैं। भाषात्मक और अभाषात्मक इस तरह शब्द दो तरहके होते हैं। भाषात्मक भी दो भेद वाला १ अक्षरात्मक दूसरा अनक्षरात्मक। अक्षरात्मकके प्राकृत संस्कृत देशभाषा आदि अनेक भेद हैं। अनक्षरात्मक भाषा द्वीन्द्रियादिकोंमें और अर्हन्त देवकी दिव्य ध्वनिमें पाई जाती है। भाषात्मकके सभी भेद पुरुष प्रयोगसे होते हैं अतः प्रायोगिक हैं। अभाषात्मक शब्द दो प्रकारके होते हैं। एक प्रायोगिक दूसरे स्वाभाविक। मेघादिककी ध्वनि स्वाभाविक होती है और प्रायोगिकके १ तत २ वितत ३ घन ४ शौषिर ये चार भेद हैं। विस्तृत चर्मके ढोल, सितार, सारंगी आदिकी आवाजको वितत, घण्टा आदिकी ध्वनिको घन, और श्वाससे जो शंख आदिकी आवाज होती है उसे शौषिर कहते हैं।

बन्ध दो प्रकारका है—एक स्वाभाविक दूसरा प्रायोगिक। सूक्ष्मता भी दो तरहकी होती है—एक अनन्त्य दूसरी आपेक्षिक। स्थूलताके भी यही दो भेद समझना। संस्थान (आकृति) नियत स्वरूप, अनियत स्वरूप दो भेद वाला है। भेद पृथक् भावको कहते हैं और वह उत्करपूर्णादि भेदसे ६ प्रकारका है। तम अन्धकारको कहते हैं। छाया आवरणको कहते। जिसकी उष्ण प्रभा हो उसे आतप कहते हैं और यह सूर्य या अग्निसे उत्पन्न होता है। जिसकी प्रभा उष्ण नहीं होती है उसे उद्योत कहते हैं, यह चन्द्रसे उत्पन्न होती है। कहा भी है कि—" **आदावो होदि उण्ह सहियपहा** "

" **उवकुण पहाहु उज्जो ओ** "

अर्थात् उष्णप्रभा सहित आतप और उष्णप्रभा रहित उद्योत होता है, ये पुद्गलके १० भेद हैं।

पुद्गलके इस प्रकारसे भी भेद किये जासकते हैं। मूलमें पुद्गल दो प्रकारका है—एक स्कंध दूसरा अणु।

जिसमें उठाना रखना आदि क्रियाओंका व्यवहार हो और स्थूल हो उसे स्कंध कहते। द्व्यणुक आदिमें स्कंधके वास्तव लक्षण बिना घटित होते हुए भी स्कंधता माना गई है। जो सिर्फ एक प्रदेशवाला हो उसे अणु कहते हैं। यह अणु अल्पज्ञादि प्रत्यक्षगोचर नहीं है। सर्वज्ञ भगवान् ही इसे जानते हैं। प्रत्येक अणु छः कोण वाला है और आकाशके एक प्रदेशमें रहनेवाला है। इसमें अत्यन्त सूक्ष्मता होनेसे आदि अन्त मध्यकी व्यवस्था नहीं की जा सकती क्योंकि जो ही इसका आदि है वही मध्य और अन्त है जैसे कि किसीके एक पुत्र हो तो उससे पूछा जाय कि तुम्हारा सबसे बड़ा पुत्र कौन है तो वह उसे ही बड़ा छोटा और मध्यम पुत्र बतलावेगा। पुद्गल द्रव्यकी सिद्धिके लिए सर्वथा प्रथम यह उचित है कि अणुकी सिद्धि कर ली जाय। अणुकी सिद्धि हो जाने पर फिर बड़ासे बड़ा भी स्कंध सिद्ध किया जा सकता है। अणु यद्यपि प्रत्यक्षसे नहीं दिखलाई देता तथापि

उसका अभाव भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि बहुतसे पदार्थ कालान्तरित (जो वर्तमान कालमें नहीं पाये जाय) हैं जैसे राम सीता लक्ष्मण रावण दि देशान्तरित (जिस दशमें जाननेवाला मोजूद हो उस देशमें न पाये जाय) जैसे सुमेरु हिमालय आदि, इन पदार्थोंकी जैसे अनुमान व आगम प्रमाणके द्वारा सिद्धि की जाती है। अणुकी भी उसी तरह अनुमानसे व आगमसे सिद्धि की जासकती है, अणु है क्योंकि यदि अणु नहीं होता तो संसारमें स्थित अणु पिण्ड स्वरूप ये पदार्थ देखनेमें नहीं आते। इस अन्यथानुपपत्ति रूप हेतुसे अणुकी सिद्धि की जाती है। आगम तो इसके लिए साक्षी है ही।

कोई कोई परमाणुको सिर्फ कारण ही मानते हैं यह उनका मानना अनुचित ही है क्योंकि "भेदादणुः" अर्थात् पदार्थोंमें भेद करनेसे अणु होता है। किसी मिले हुए पदार्थका यहां तक भेद हो जाय कि जिससे फिर उसके भेद न हो सकें तो वह जो अन्त दशापन्न पदार्थ होगा, वह ही परमाणु बोला जायगा अतः भेदके द्वारा अणुके उत्पन्न होनेसे अणुको कार्य भी है। परमाणुमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी सघटित है क्योंकि उसमें स्निग्धत्वादि गुणोंका उत्पाद और व्यय होता रहता है। द्रव्य पिंड न्यकी अपेक्षासे परमाणुकी न कभी उत्पत्ति होती है न कभी नाश होता है, अतः परमाणुमें द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित हो जाता है। स्पर्श रस आदि गुणोंका समुदाय ही परमाणु है अतः परमाणुमें स्पर्श आदिके भेद होनेसे भेद भी हैं और परमाणु फिर विभाग नहीं होता अतः परमाणु अभेद स्वरूप भी है। परमाणु सूक्ष्म परिमाणवाला है इस लिए कथंचित सूक्ष्म है और द्व्यणुकादि सम्बन्ध होनेसे स्थूल स्कन्ध रूप होजाता इस लिए कथंचित स्थूल भी है। परमाणुका द्रव्य रूपसे कभी विनाश नहीं होता अतः नित्य है और स्कन्ध रूपमें अनेक प्रकारसे इसका परिवर्तन होता रहता है अतः कथंचित अनित्य है। कार्यरूप अनुमानसे परमाणु जाना जाता है अतः कार्यलिङ्ग है और प्रत्यक्ष ज्ञान विषय पनकी अपेक्षा कथंचिद्लिङ्ग नहीं है अत: मानना चाहिये कि —

अणुमें भी अनेकान्तताका अच्छा साम्राज्य है।
स्कन्धके विषयमें कुछ विशेष कहना नहीं है॥

स्कन्धके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध प्रदेश इस तरह तीन भेद हैं।

स्कन्धके पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार भेद भी हैं।

नैयायिक लोग पृथ्वी, जल, वायु, अनल (अग्नि) को अलग २ स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं। पृथ्वीमें स्पर्श रस गन्ध और वर्ण ये ४ गुण मानते हैं और पृथ्वीका लक्षण गन्धवती पानी गन्धयुक्त है ऐसा मानते हैं। जलमें स्पर्श रस वर्ण ये तीन ही गुण मानते हैं और शीतस्पर्शवत्व आप. शीत स्पर्शवाला जल है यह जलका लक्षण मानते हैं। अग्निमें वर्ण और

इसमें ये दो गुण माने हैं और लक्षण उष्णस्पर्शवत् ऐसा मानते हैं। वायुमें रूप भी नहीं मानते सिर्फ स्पर्श ही गुण मानते हैं और रूप रहित स्पर्शवान् वायु ऐसा वायुका लक्षण कहते हैं। यह इनका मानना अविचारित ही है क्योंकि पृथ्वी आदि अलग पुद्गलसे भिन्न पदार्थ नहीं है। हम देखते हैं कि पृथ्वी रूप जो काठ है वह जलकर अग्नि रूप हो जाता है तथा बारूद दियासलाई आदिमें अग्निका उष्ण स्पर्शवत् लक्षण नहीं भी है तथापि ये जलकर अग्नि रूप ही होजाते हैं और अग्नि जल चुकनेके बादमें फिर पृथ्वी रूप हो जाती है। स्वाति नामक नक्षत्र विशेषमें वर्षा होते समय यदि जल बिन्दु सीपमें पड़ जाय तो वही पार्थिव रूप मोती बन जाती है। जिस आहार पानको हम ग्रहण करते हैं वही पित्तरूप (जठराग्नि) परिणत हो जाती है अतः पृथ्वी आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माने जा सकते तथा जो आपने पृथ्वीमें स्पर्शादि चारों ही, जलमें गन्ध विना तीन, अग्निमें रूपस्पर्श और वायुमें केवल स्पर्श माना था सो यह भी तुम्हारा मानना न्याय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिनमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है वे एक दूसरेके बिना कभी नहीं रह सके, इनका अविनाभाव किस तरहसे है और पृथ्वी आदिका जीव पुद्गलादि किस किसमें अन्तर्भाव होता है यह हम पदार्थोंकी व्यवस्था जहां निर्णय की है वहां लिख आये हैं अतः यहां पुनरुक्ति, ग्रंथ वृद्धि, समयाभाव, और निरर्थक होनेसे नहीं लिखते हैं। आशा है कि इस प्रकरणके जिज्ञासु जहां यह विषय लिखा गया है उन पत्रोंमें देखनेका कष्ट उठावेंगे।

परमाणुकी तरह स्कन्धमें पूर्व अपर अवस्था विनाश उत्पाद होने द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह घटित हो जाता है। ध्रौव्यता इनके सर्वथा नाश न होने सदा बनी ही रहती है।

पृथ्वी आदि पुद्गलकी अपेक्षा आदि रहित हैं। उत्पत्तिकी अपेक्षा तो अनादि नहीं कह सके क्योंकि उत्पत्तिवाला सादि ही होता, इस तरह पुद्गल द्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धिका विषय समाप्त किया।

सारांश—पुद्गल द्रव्य यदि नहीं होगी तो संसारकी प्राणभूत पदार्थ व्यवस्था नहीं बन सकते अतः पुद्गल द्रव्यकी आवश्यकता है। परमाणुके सिद्ध होनेसे पुद्गल द्रव्यकी सिद्धि है ही। अतः जीवद्रव्यवत् पुद्गलद्रव्यको भी मानना चाहिये।

धर्म अधर्मका निरूपण तथा आवश्यक्ता।

उक्त कथनमें पुद्गलकी अच्छी तरहसे सिद्धि की गई है। यहां धर्म अधर्मके विषयमें लिखते हैं—प्रथम धर्मद्रव्यका लक्षण श्री कुन्दकुन्दाचार्यने इस प्रकार किया है—

धम्मत्थि कायमरस अवण्णगंध असद्दमप्फासं।
लोगोगाढ पुट्ठं विहुलमसंखादि य पदेसं ॥ १ ॥

अगुरुगलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं ।
गदिकिरिया जुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥ २ ॥
उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोये ।
तह जीव पुग्गलाण धम्म दव्व वियाणेहि ॥ ३ ॥

भावार्थ—धर्मास्तिकाय स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्दसे रहित है अतएव अमूर्त है, सकल लोकाकाशमें व्याप्त है, अखण्ड विस्तृत और असंख्यात प्रदेशी है, षट्स्थान पतित वृद्धिहानि द्वारा अगुरुलघु गुणके कारण अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकतासे उत्पाद व्यय स्वरूप है। स्वरूपसे कदापि च्युत न होनेके कारण नित्य है। गति क्रिया युक्त जीव पुद्गलोंके गमनमें सहायक है। और किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है अतः अकार्य है। जल मत्स्यादिकोंके गमनमें स्वयं न चलकर जैसे सहकारी है उसी प्रकार जीव पुद्गलोंके साथ स्वयं न गमन करता हुआ उनके (जीव पुद्गलके) गमनमें सहकारी मात्र है। यहां यह लक्ष्य रखना चाहिये कि धर्म अधर्म शब्दका उपयोग दूसरे अर्थमें भी आता है। लोकमें पुण्य पापको भी धर्म अधर्म कहते हैं जिसमें कि धारी ने धर्म व धर्म अधर्म ये व्युत्पत्तियां हैं। ये धर्म अधर्म शब्द गुणवाचक हैं लेकिन इस कथनगत धर्म अधर्म शब्द द्रव्यवाची हैं।

धर्म द्रव्यका स्वरूप संक्षेपसे यह है कि जीव पुद्गलोंको गमनमें सहकारी मात्र हो वह धर्म, और जो ठहरानेमें जीव पुद्गलोंको सहकारी हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। जिस तरह पवन पताका उड़ाता है पावल्ली नावको चलाती है या मोटर मनुष्यको स्थानान्तरपर पहुंचाती है उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीव पुद्गलोंके गमनमें सहकारी नहीं है क्योंकि "निष्क्रियाणि" इस सूत्रसे धर्मादि द्रव्योंको निष्क्रिय बतलाया है। जो स्वयं क्रियायुक्त नहीं वह दूसरोंको क्रिया नहीं करा सकी किन्तु धर्म द्रव्य उदासीन निमित्त कारण है। इसी तरह अधर्म द्रव्यकी बावत भी समझना चाहिये। अधर्मको भी जीव पुद्गलोंकी स्थितिमें उदासीन निमित्त कारणता है।

शंका—जब कि धर्म अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य क्रिया रहित हैं तो उत्पाद नहीं होना चाहिये, उत्पाद नहीं होगा तो व्यय भी नहीं होगा क्योंकि जो २ उत्पादवाले हैं वे ही व्ययवाले देखे गये हैं। क्योंकि जो व्ययवाले नहीं हैं व उत्पादवाले भी नहीं हैं जैसे कि आत्मा।

अन्यच्च, उत्पादन होना ही व्ययके अभावका सूचक है क्योंकि "कार्योत्पादः क्षयहेतु" कार्यका उत्पाद है वही क्षयका कारण है। उत्पाद व्यय न होनेसे इनमें द्रव्यका लक्षण घटित नहीं हो सक्ता। यह कहना भी युक्त संगत नहीं है। यद्यपि क्रिया निमित्त उत्पाद यहांपर नहीं भी है तथापि स्वपर निमित्त उत्पाद यहांपर अच्छी तरह घटित हो

जाता है। स्व निमित्त उत्पाद व्यय अगुरु लघु गुण षड्गुण हानिसे होता है पर निमित्त उत्पाद व्यय अश्वादिको गति स्थिति अवगाह देनेसे होता है। धर्म अधर्मका सद्भाव उनके कार्य द्वारा किया जाता है क्योंकि कार्यका उद्भव कारणका सद्भाव अवश्यंभावी है जैसे कि धूमके सद्भावमें अग्निका होना अवश्यंभावी है। जब कि जीव पुद्गलोंमें गति स्थिति देखते हैं तो उस गति स्थितिका कोई न कोई कारण अवश्य होगा और वह कारण अभी धर्म ही है यानी गतिका कारण धर्म और स्थितिका कारण अधर्म है।

शंका—जब कि गति स्थितिका कारण पृथ्वी भी हो सकती है तो अदृश्य धर्म अधर्मकी कल्पना नहीं करना चाहिये। ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि पृथ्वी जल आदि आश्रय रूप है अतः गति स्थिति हेतुक विशेष कारण धर्म अधर्म मानना ही चाहिये।

शंका—आकाश द्रव्य सर्व व्यापक है अतः आकाश ही गति स्थितिमें साधारण निमित्त कारण हो सकता है। धर्म अधर्म माननेकी पुनरपि आवश्यकता नहीं है, ऐसा नहीं कह सके क्योंकि आकाशका अवगाहन उपकार है अन्यका यानी धर्मादिका उपकार अन्य यानी आकाशका नहीं हो सकता अन्यथा किसी भी पदार्थकी गतिस्थिति न हो सकेगी।

अन्यच्च— यदि आकाशको गति हेतुका कारण मानेंगे, आकाश अलोकाकाशमें भी है। वहा पर भी इसको गति स्थिति हेतु। पश्चात् होकर जीव पुद्गलोंका गमन हो जायगा तथा च लोकालोकका विभाग नहीं हो सकता। अतः मानना चाहिये कि धर्म अधर्म द्रव्य हैं। लोकालोक विभागकी धर्म अधर्मके बिना उत्पत्ति न होनेसे यहां लोकालोक विभाग रूप हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि लोकालोक विभागका अनुमापक हेत्वन्तर उपस्थित है। लोक अलोकका विभाग है क्योंकि लोक सान्त है और अलोकाकाश अनन्त रूप है कोई ऐसा कहे कि लोक सान्तरूप नहीं है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि लोक सान्त है मान विशेष होनेसे मकानादिककी तरह।

इस तरह लोककी सान्तता सिद्ध हुई। सारांश यह है कि धर्म अधर्मकी सिद्धिके लिये लोकालोक विभागान्यथानुपपत्तिरूप हेतु है। लोकालोक विभागके लोकस्य सान्तता हेतु है और लोककी सान्तता सिद्ध करनेके लिये स्वतः विशिष्टत्व हेतु है। स्वतः विशिष्टत्व प्रत्यक्षगम्य ही है क्योंकि जो २ स्वतः विशेष विशिष्ट हैं वे २ सान्त हैं और जो २ सान्त हैं वे २ विभाग युक्त हैं। जबकि विभाग सिद्ध हो गया तो इस अनुमानसे धर्म अधर्म है। लोकालोकको अन्यथा (धर्म अधर्मके अभावमें उत्पत्ति न होनेसे) धर्म अधर्मकी सिद्धि हो ही जाती है। अतः धर्म अधर्मका सद्भाव स्वीकार करना ही चाहिये।

आकाश द्रव्यकी आवश्यकता और सिद्धि।

आकाशका लक्षण धर्मादिक द्रव्योंको अवगाहन देना है अर्थात् जो सर्वव्यापी अखण्डित और सबको अवकाश देनेकी सामर्थ्य वाला है उसे आकाश कहते हैं। जो

करिते धर्माधर्मै द्रव्याण्यवयासौ लोकः यानी जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाय उसे लोक कहते हैं। जहांपर धर्मादि द्रव्य नहीं है वहांके आकाशको अलोकाकाश कहते हैं।

शंका—जिस तरह आप धर्माधर्मजीवादि द्रव्यका आधार आकाश मानते हैं तो आकाशका भी आधारान्तर (अन्य आधार) मानना चाहिये या आकाशके सदृश जीवादिकको भी स्व प्रतिष्ठित मानिये, ऐसी शंका नहीं कर सक्ते। क्योंकि आकाश सर्वतो अनन्त है अतः उसको कोई आधारान्तर कल्पित नहीं किया जा सका।

शंका—आधार आधेयभाव पूर्व उत्तर वर्तियोंका होता है तो जब धर्मादिका आकाशमें आधार आधेय भाव है तो पूर्वोत्तर भाव भी पाया जाना चाहिये और ऐसा माननेसे द्रव्योंकी अनादिताका खंडन होता है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि पूर्वोत्तर वर्तियोंका ही आधार आधेय भाव हो, यह कोई नियम नहीं है। आत्मामें ज्ञानदर्शनादि या घटमें रूप रसादिक इन समकालवर्तियोंमें भी आधार आधेय भाव देखा जाता है। आकाशमें "सद्द्रव्य लक्षणं" "गुणपर्ययवद् द्रव्य" आदि तीनों ही द्रव्यके लक्षण सम्यक् रीत्या घटित होते हैं और वह कैसे सो आगाडी दिखावेंगे।

शंका—आकाशका जो अवगाह देना लक्षण किया सो अतिव्याप्ति दोष दूषित है क्योंकि "लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरण अतिव्याप्ति" जिस धर्मके सहित लक्ष्य होता है, उस धर्मको लक्ष्यतावच्छेदक नामसे कहते हैं और लक्ष्यतावच्छेदकसे अवच्छिन्न है उसे लक्ष्य कहते हैं। यहां लक्ष्यतावच्छेदक आकाशत्व है तथा लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न आकाश है और अन्याभाव प्रतियोगि इस नियमके अनुसार आकाशका प्रतियोगि (प्रतिपक्षी) मकान वगैरह अथवादि भी जीव पुद्गलोंको अवगाह देते हैं फिर आकाश हीका यह लक्षण कैसे हो सकता।

उक्त शंका नहीं करनी चाहिये। प्रथम तो आपने जो अति व्याप्तिका लक्षण बताया वही ठीक नहीं है क्योंकि मानलीजिए अश्व (घोड़े) का हमने सास्नादिमत्व यह लक्षण किया तो आपका उक्त अतिव्याप्तिका लक्षण यहां घट ही जाता है यानी लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न हुआ अश्व उसका जो प्रतियोगी गौ उसमें सास्नादिमत्व रह गया लेकिन अश्वका सास्नादिमत्व लक्षण करना यह असम्भव दोष कहा है क्योंकि "लक्ष्यतावच्छेदक व्यापकीभूताभाव प्रतियोगित्वं" ऐसा असम्भवका लक्षण किया है। अश्वका सास्नादिमान् लक्षण करने पर लक्ष्यतावच्छेदक अश्वत्व तथा अश्वत्व व्यापकीभूत (यानी अश्वत्व जिनमें रहे) हुए सब अश्व, उनमें जिसका अभाव रह प्रतियोगित्व हो सो सास्नादिमत्वका अभाव है अतः अश्वका सास्नादिमत्व लक्षण है वह मिथ्या धर्म। और अति व्याप्ति दोषसे अतिव्याप्ति इसी

धर्मका अवलम्बन करके असम्भव दोषसे मरे हुए हैं अत आपको अपने उक्त अति व्याप्तिके लक्षणमें लक्ष्यत वच्छेदक सामानाधिकरण्य सति इतना विशेषण और मिलाना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे अति व्याप्ति और असम्भवमें ऐक्य नहीं आसकता। उक्त उदाहरणमें ही जिसमें कि अधका सास्न दिमत्व लक्षण कहा निर्दोषित अतिव्याप्तिका लक्षण बनाइनेसे लक्षण ही नहीं माता क्योंकि लक्ष्यतावच्छेदकका समानाधिकरण जो लक्ष्य उसमें रह कर फिर जो लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिमें जो लक्षणका रहना है उसे अतिव्याप्ति कहते हैं। लक्ष्यतावच्छेदक अधत्व इसका समानाधिकरणी जो अध उसमें स्नादिमत्व रहकर फिर लक्ष्यतावच्छेदक समानाधिकरण प्रतियोगि भावमें रहता तो स्नादिमत्व अतिव्याप्त होता लेकिन रहता ही नहीं है अत यहां असम्भव दोष ही आवेगा।

और जब कि आपसे अतिव्याप्तिके लक्षणमें ही गल्ती होती है तो आप आकाशक अवगाहित्व लक्षण कैसे अतिव्याप्त सिद्ध करेंगे।

(शङ्काकार)—अस्तु, हमने आपके द्वारा स्पष्ट करत्या ही अति व्याप्तिका लक्षण स्वीकार किया किन्तु महाशयजी क्या, अति व्याप्तिके निर्माणसे अशुद्ध किये हुए लक्षणको ही शुद्ध करके अति व्याप्ति दोषका निराकरण करना चाहते हैं। इस सबमें तो फक्त एक लक्षण ही शुद्ध किया गया, अति व्याप्तिका निराकरण तो हुआ ही नहीं।

आकाशका अवगाहित्व लक्षण मकान धर्म अधर्ममें भी पाया जाता है इसलिए अति व्याप्त है। और दोष युक्त लक्षणसे कभी भी लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

जैनी—आपका उक्त कटाक्ष भी आपकी आत्मदौर्बल्यका प्रदर्शक है। आकाशका अवगाहित्व लक्षण प्रधान है। पृथ्वी धर्म अधर्मादिके अन्य अन्य लक्षण हैं जैसे पृथ्वीका स्पर्श रस गन्ध वर्णवत्व, धर्मका गति हेतुत्व, अधर्मका स्थिति हेतुत्व।

अब अवगाह देना लक्षण आकाशका ही है। धर्म, अधर्म, पृथ्वी आदि सभीको अवगाह नहीं देते। दूसरे अवगाह देना इनका लक्षण भी नहीं है अत आकाशके अवगाहित्व लक्षणमें शंका नहीं करना चाहिये।

यदि आकाशका लक्षण अवगाह देना ही है तो अलोकाकाशमें तो अन्य द्रव्योंका अभाव है अत वहां अलोकाकाश किसीको भी अवगाह नहीं देता अत आकाशके लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि लक्ष्यतावच्छेदक समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व ऐसा अव्याप्तिका लक्षण माना है सो यहां अच्छी तरहसे घटित होता है। यहां लक्ष्यतावच्छेदक आकाशत्व है तथा आकाशत्वका समानाधिकरणी हुआ आकाश, उसके अत्यन्ताभावका प्रतियोगि (यानी लक्ष्यका कुछ भाग) में लक्षणके रहनेसे अव्याप्ति दोष आता है सो यहां आकाशके कुछ भाग यानी लोकाकाशमें तो यह द्रव्यका लक्षण आता है,

अलोकाकाशमें नहीं जाता अत: अव्याप्ति दोष दुष्ट होनेसे द्रव्यका लक्षण अलोकाकाशमें द्रव्यत्व नहीं सिद्ध करसक्ता।

ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अलोकाकाशमें अन्य द्रव्य ही नहीं है जिसको कि आकाश अवगाह दे। यदि किसी घड़ेमें पानी न रक्खा जाय तो घटका जल धारण धर्म नष्ट नहीं हो सकता इसी प्रकार यह दोष आकाशका नहीं है।

(शंका) जबकि अलोकाकाशमें काल द्रव्य ही नहीं है तो वहां वर्तना नहीं हो सक्ती। वर्तनाके बिना उत्पाद व्ययका व्यवहार नहीं हो सका और न नित्यताका ही व्यवहार हो सक्ता है अत वहाँ द्रव्यका लक्षण ही सुघटित नहीं होता अत यातो अलोकाकाशको द्रव्य श्रेणीसे अलग कर देना चाहिये नहीं तो द्रव्यका लक्षण अव्याप्ति दोष दुष्ट मानना चाहिये। अलोकाकाश द्रव्यकी श्रेणीसे अलग तो किया नहीं जा सक्ता क्योंकि आकाशका विशेष भेद है। विशेष विना सामान्य रह नहीं सक्ता। यदि अलोकाकाशको द्रव्यकी श्रेणीमेंसे अलग कर देंगे तो आकाशका भी अभाव हो जायगा, आकाशके अभाव होनेपर अवगाह देनेकी शक्ति युक्तद्रव्यका अभाव होवगा फिर धर्म अधर्म आदि कहांपर ठहरेंगी। तथा च सात नरक घनोदधिवलयके ऊपर हैं। घनोदधि वलय, घनवात वलयके ऊपर है और घनवातवलय आकाशके ऊपर है और आकाश स्वय स्वप्रतिष्ठित है। इस सबका अन्त कारण आकाश ही है फिर आकाशका अभाव होनेसे यह सब व्यवस्था कैसे बनेगी।

ऐसी शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि आकाशमें द्रव्यका लक्षण सुघटित ही है जैसे एक बड़े बांसके सिरेपर कुछ आघात करनेसे सब बांसमें उसकी आघातसे क्रिया हो जाती है। बांसके एक होनेसे तथैव आकाशमें भी कथञ्चित एकत्व है अत वहां भी एक देशीय आकाशमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य हो जावगा यानी लोकाकाशके आकाशमें काल द्वारा वर्तना है अत उत्पादादि भी होंगे। उसी उत्पादादिका असर अलोकाकाशके आकाशमें भी हो जायगा। द्रव्य लक्षणके सुघटित होनेसे आकाशमें द्रव्यता सिद्ध हो गई अत उक्त कोई दोष नहीं आसक्ता, आकाशके सद्भावका विनिश्चायक यही प्रमाण है कि सभी शब्दोंके वाच्य अवश्य हुवा करते हैं। अत आकाश शब्द जब प्रसिद्ध है तो उसका अभिधेय अवश्य मानना चाहिये।

शंका—क्या जो २ शब्द हैं उन सभीके कुछ न कुछ वाच्य अवश्य हुआ करते हैं ? यदि ऐसा है तो वन्ध्या पुत्र खरविषाण इनका भी कुछ न कुछ वाच्य होना ही चाहिये, ये कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वन्ध्या पुत्र इतना समस्त कोई पद नहीं है पृथक हैं और पृथक २ अभिधेयोंकी उपलब्धि भी होती है। अब कोई ऐसी शंका करे कि आकाश तो सर्वव्यापक है उसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य कैसे होंगे

यह कहना भी अविचारीतरम्य ही है क्योंकि आकाश सर्व नित्य है तो ध्रौव्यता तो उसमें सदा बनी ही रहेगी। उत्पाद व्यय अगुरुलघुगुणकी अपेक्षासे हो जायगे। द्रव्योंमें उत्पाद व्यय दो प्रकारसे होते हैं। एक स्व प्रत्यय और दूसरे पर प्रत्यय। अनन्त अगुर लघु गुणोंके द्वारा षट स्थान पतित वृद्धि हानिसे पूर्व अवस्थाके अभाव होना उसको स्वद्रव्य व्यय कहते हैं और पहिलेकी तरह आगेकी पर्यायका आविर्भाव होनेपर इस प्रत्यय व्यय कहते है पर प्रत्यय उत्पाद व्यय तो सुलभ ही हैं। यानी आकाश महुतसी आकाश रूप परिणत मद्दुलसे जीवादिकोंको अवकाश देता है जब कि द्रव्य, जिनका कि आकाशमें अवगाह होता है अनेक रूप हैं तो आकाश भी अपनी प्रथक २ शक्तियों द्वारा उन अनेक रूपजीवादिकोंको अवकाश देता है अत अनेक रूपता आकाशको सिद्ध ही है। कोई २ " शब्द गुणकमाकाश " यानी शब्द है गुण जिसका ऐसा आकाश है, ये आकाशका लक्षण मानते हैं। नैयायिक लोग शब्दको गुण मानते हैं। अपने चोवीस (२४) गुणोंकी सख्याके अन्दर शब्द नामक एक गुण है जिसका कि लक्षण " श्रोत्र ग्राह्यो गुण " "श्रोत्र ग्राह्यत्वे गुणत्वस्य शब्दस्य लक्षण" श्रोत्र ग्राह्य विशेषण देते तो रूपरादि गुण है अत यहा लक्षणमें शब्दका लक्षण जानेसे अति व्याप्ति दोष होता। और यदि श्रोत्र ग्राह्य व मात्र कहते तो शब्दत्व भी श्रोत्र ग्राह्य है किन्तु गुण न होनेसे शब्द नहीं कहा जासकता।

इस तरह शब्दका लक्षण मानकर नैयायिक शब्दगुणवाला आकाश है ऐसा कहते हैं किन्तु शब्द पौद्गलिक है यह हम पहिले सिद्ध कर आये है।

अत, जब कि शब्दको पुद्गलता है तो उसे गुण नहीं कह सकते। यदि द्रव्य भी गुण कहेंगे तो द्रव्य गुणमें सकर हो जायगा। इस लिए शब्द गुणवाला आकाश नहीं होसकता अत जैनियोंका माना हुआ आकाशका लक्षण स्वीकार करना चाहिये सर्वत्र निर्विवाद होनेसे।

साराश—वाच्यसे वाचककी सिद्धि होती है अत आकाश वाच्यसे आकाश वाचककी सिद्धि हो हो जायगी और उपयोगीता उसकी अवगाह दानसे सिद्ध होता है। यदि आकाश माना नाय तो सभी द्रव्योंको निराश्रयताका प्रसङ्ग हो जायगा अत आकाशको मानना ही चाहिये।

अब कालकी सिद्धि और आवश्यक्ता बतलाते है।

काल द्रव्यका स्वरूप पूर्वाचार्योंने यह दिखलाया है कि जो सब द्रव्योंके वर्तनामें उदासीन कारण हो उस काल द्रव्य कहते हैं। जैसे धर्म और अधर्म द्रव्य पुद्गलों और जीवोंकी गति स्थितिमें बलात्प्रेरक नहीं हैं उसी तरह काल भी बलात्कारसे किसी द्रव्यमें वर्तना

(परिणमन) नहीं करता जैसे कि गाडीके नीचे लगे हुवे पहिये स्वयं गाडीको नहीं खींच ले जाते बल्कि गाडी बैल आदिकोंसे खींची जाती है तो पहिये गाडीके चलनेमें उदासीन कारण हो जाते हैं। उसी प्रकार कालके वर्तनाकी दशा है। लोकाकाशके एक२ प्रदेशके ऊपर रत्नकी राशिके समान एक२ कालका अणु स्थित है।

उक्तं च-लोगायास पदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केका।
रयणाण रासीमिव ते कालाणु असंख दव्वाणि ॥१॥

द्रव्यके जो दो या तीन लक्षण पहिले कहे थे वे दोनों ही काल द्रव्यमें अच्छी तरह घटित हो जाते हैं। काल द्रव्यमें अगुरु लघु गुणकी अपेक्षा षट् स्थान पतित और हानि-वृद्धिसे उत्पाद और व्यय होते हैं। समय२ के अनन्तर कालमें भूत भविष्यत् वर्तमानका व्यवहार होता है। कुछ समयके बीत जानेमे (विनाश हो जानेसे) भूत कालका व्यवहार होता है। और तात्कालिक उत्पाद होनेसे वर्तमानका व्यवहार होता है और, अनागतकी अपेक्षा भविष्यका व्यवहार होता है। इस तरह उत्पाद व्यय हो जाते हैं और कालपनेका सभी कालोंमें व्यवहार होता है अत ध्रौव्यता है ही इसलिये सद् द्रव्य लक्षण घटित हो ही जाता है। कालके साधारण गुण चेतनत्व सूक्ष्मत्व आदि हैं और असाधारण वर्तना हेतुत्व है। भूत वर्तमान आदि ये [redacted] कालकी पर्याय हैं अत द्वितीय द्रव्यका लक्षण गुणपर्ययवद्द्रव्य " यह भी घटित ही है। कालमें भूत भविष्यत आदिका व्यवहार होता है अत. कालको अप्रदेशी और अनन्त समयवाला माना है।

शंकाकार-जब कि आप वर्तना कराना कालका लक्षण मानते हैं तो कालको सक्रिय मानना चाहिये यह उनका कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां निमित्त मात्रमें हेतु-कर्ताका व्यवहार है जैसे चश्मा मुझे दिखलाता है, या कण्डेकी अग्नि मुझे पढाती है, इत्यादिमें कालका व्यवहार होता है। संसारमें भी मुलका समय मध्याह्न (दोपहर)का समय बाग्य समय ऐरवमैलका समय पैसिंजरका समय इत्यादि जो व्यवहार होता है वह कालके सद्भावमें ही मुख्यतया होता है। दूसरेके द्वारा अज्ञातवा दूसरेको ज्ञान कराने-वाली जो क्रिया विशेष उसको काल कहते हैं। जिस २ में कालका लक्षण जाय उसे २ द्रव्य मानना चाहिये इसलिये अनायास कालको द्रव्यता सिद्ध ही है। नैयायिकोंने कालका लक्षण " अतीतादि व्यवहार हेतु काल " ऐसा माना है।

शंकाकार-अतीतादिका व्यवहार करानेवाला आकाश भी है अत आकाशको भी कालका लक्षण मानना चाहिये। क्योंकि आकाशके बिना अतीतादि शब्द नहीं बोले जा सकें अत उक्त काल द्रव्यका लक्षण अति व्याप्ति दोष दुष्ट होनेसे प्रमाणीक नहीं माना जा सक्ता ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। व्यवहार हेतु शब्दका अर्थ निमित्त मात्र लेना चाहिये। कण्ठ तालु आदि जो अतीत आदि शब्दोंके अभि यञ्जक हैं उनसे भी अतिव्याप्ति

नहीं दे सके क्योंकि यहां अतीतादि व्यवहार हेतु शब्दका अर्थ निमित्तमात्र ही है, कालकी सिद्धिमें और भी बहुतसे प्रमाण दिये जा सके हैं। यह कालकी ही महिमा है कि नियत समयमें प्रकृतिका नियत कार्य होता है। चैत्र वैशाख ज्येष्ठमें ही आम आते हैं। भादों सावन भादोंमें ही पकती हैं आदि २।

यदि समय कुछ भी चीज न होती तो जो चीज जब चाहे उत्पन्न आती। समय न होता तो १० ही महीने बाद स्त्रीके बालक नहीं पैदा होना चाहिये। वर्षा भी नियत समय पर नहीं होना चाहिये तथा जो आम, निम्बू, केला, जामुन, सेव, बेर आदि फल उत्पत्ति समयमें जैसे होते हैं उसी तरह हमेशा रहना चाहिये। बच्चा भी जैसा उत्पत्ति समयमें होता है वैसा ही रहना चाहिये तथा वृक्ष आदि जितनी भी वस्तुयें उत्पत्ति अवस्थासे आगे २ वृद्धिको प्राप्त होती हैं वे पूर्व अवस्थामें ही रहनी चाहियें अत एसी स्थिति होनेपर संसारके बहुभागका अभाव हो जायगा इसलिये काल द्रव्य अवश्य मानना चाहिये। यह काल द्रव्यका व्यवहार सूर्य चन्द्र आदिकी गति हेतुक है। सूत्रकारजी ने भी कहा है "तत्कृत काल विभाग" यानी सूर्य नक्षत्र आदिकी गतिसे कालका विभाग होता है। संसारकी स्थिति जो प्रथम कालमें थी वह पंचम कालमें नहीं है और जो इस कालमें है या होगी वह षष्ठम कालमें नहीं होगी अत इन सबमें भेद विनिश्चायक कालकी सिद्धि होती है। कालके दो भेद हैं व्यवहार काल और परमार्थ काल। व्यवहार कालके भूत वर्तमान भविष्य इस तरह तीन भेद होते हैं इस तरह कालकी प्रमाणता और सिद्धि जानना चाहिये। इस निबंधके निर्माणका यही तात्पर्य है कि सम्यक् पदार्थ व्यवस्था सदा ही स्थितिको प्राप्त है।

इस प्रकार इस लेखमें निम्न क्रमसे पदार्थ व्यवस्थाका निरूपण किया है। प्रथम दूसरोंके द्रव्य लक्षणकी सुचारुता अप्रमाणीक सिद्ध करके आर्हतमतानुयायियोंके द्रव्य लक्षणकी सिद्धि की है इसके पश्चात्‌ स्वीकृत द्रव्य संख्याकी न्यूनाधिकता होनेसे संख्याभास बताकर जैनियों द्वारा स्वीकृत संख्याकी प्रमाणता सिद्ध की है तदनन्तर अन्यमतानुयायियोंकी द्रव्योंका खंडन संक्षेप सिद्धकर स्याद्वादियोंके इच्छित जीवादि षड्द्रव्योंका विशद निरूपण किया है।

यदि समाजका कुछ भी इस लेखसे उपकार हुआ तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

श्री सारसान अगार स्वामी बीनती हमरी यही।
शुभ ज्ञान हमको दीजिये अरु शान्तिमय कीजे मही॥
कर्तव्यमें निष्ठा सभीकी होय श्रीमन् सर्वदा।
अन्याय अत्याचारका उत्पाद नहिं होवे कदा॥१॥
शान्तिका साम्राज्य हो अरु नाश अत्याचारका।
सबके दिलोंमें भाव हो सत् नीति धर्म प्रचारका॥२॥

षट्द्रव्यकी आवश्यक्ता और उनकी सिद्धि।

जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० २

(लेखक -पं० अजितकुमार शास्त्री-मुंबई)

इन्द्रवज्रा—ध्यानाग्निद्वारा विधिको नशाया, संसारका सार सभी मिटाया।
दुःखार्तप्राणी बहुबार तार, मेरो प्रभो! ये दुखपुज तार॥

प्रियवर सज्जन समाज!

यह संसार एक महासागर है जिसके अगाध जलमें दृश्यमान नाना प्रकारके अनेक जन्तु क्षारजलकी क्षारतासे, बडवानलकी तीव्र उष्णतासे तथा पारस्परिक कलहकी वेदनासे एवं भयावह महाकल्लोलोंके सघट्टसे असह्य पीडाको सहन करते हुए इधरउधर भटक रहे हैं किन्तु उस अपार पारावारकी शांतिदायिनी तटभूमिको न पानेसे उसी दुःखसागरमें दबे हुए और भी अधिक छटपटा रहे हैं। अथवा यह जगत एक महाउपवन है जिसमें चेतन तथा अचेतन दो प्रकारके वृक्ष लगे हुए हैं। जिस प्रकार अचेतन पौधे अनेक प्रकारके हैं तथैव चेतन वृक्ष भी विविध प्रकारके लगे हुए हैं। कोई महा उन्नत हैं, कोई लघु आकारके हैं। एवं कोई रमणीय मनोहर हैं और कोई महा असुन्दर हैं।

सारांश यह है कि यह संसार एक विशाल आश्चर्यभवन या अजायबघर है जहां पर अनेक प्रकारके समस्त पदार्थ एकत्रित किये गये हैं। अस्तु।

अब विचार इस विषय पर करना है कि जिसको सभी लोग जगत कह रहे हैं वह जगत वस्तुतः क्या पदार्थ है? और उसमें कितने प्रकारके पदार्थ विद्यमान हैं?।

जिस समय परीक्षाभवनमें हम पहला प्रश्न उपस्थित करते हैं उस समय हमको चारों ओरसे एक स्वरमें यही उत्तर मिल जाता है कि "दृश्यमान तथा अनेक प्रकारसे ज्ञायमान नाना पदार्थोंका समुदाय ही जगत है" यद्यपि इस उत्तरके विशेष विशेष अंशोंमें पारस्परिक अनेक विवाद है किन्तु सामान्य उत्तर समस्त पुरुषोंका समान ही है। अस्तु।

परन्तु जिस समय द्वितीय प्रश्न उपस्थित किया जाता है उस समय हमको अनेक उत्तर नाना प्रकारसे प्राप्त होते हैं। इस कारण इस विषयका पता लगजाता है कि इन सभी उत्तरोंमें या मन्तव्योंमें सभी मतव्य यथार्थ नहीं हैं किंतु यदि ठीक होगा भी, तो एक मतव्य ही ठीक होगा। शेष सभी मत अयथार्थ (गलत) होंगे। अस्तु।

आज हम अपना अमूल्य समय इसी परीक्षामें व्यतीत करते हैं जिसका एक ऐसा मनोहारी फल निकालेंगे जो कि हमको अपूर्व, अनुपम तथा महा आनन्द प्रमोद प्रदान करेगा जिससे कि हमारे समयकी बहुमूल्यता हमको अमूल्यता भेंट करेगी।

हम सबसे प्रथम इस विषय पर ध्यान देते है कि जिन द्रव्योंके भेदोंका हमें निश्चय करना है उनका सामान्य स्वरूप तथा लक्षण क्या है ? तदनन्तर हम परीक्षक बनकर मांसाहारका विचार कर सकेंगे।

बहुत अनुसंधान करनेपर इन उपर्युक्त शंकाको दूर करनेके लिये हमको सारभूत द्रव्यका लक्षण यह प्राप्त हुआ है कि " जो गुण तथा पर्याय स्वरूप हो वही द्रव्य है " यानी गुण और पर्यायका जो आश्रय है वही द्रव्य है। यहाँ पर यह ध्यानमें रखना चाहिये कि गुण और पर्याय ऐसे नहीं हैं कि द्रव्यसे पृथक् रहकर उसमें फिर आ मिलें हों किन्तु जैसे वृक्षमें शाखाएं हैं शरीरमें अंग तथा उपांग हैं तथैव द्रव्यमें गुण और पर्याय हैं। अथवा गुण, पर्यायके अतिरिक्त द्रव्य कोई भिन्न वस्तु नहीं है जैसे कि शाखा, पत्ते, फूल, फल आदिके विना वृक्ष कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। इनमेंसे "द्रव्यकी सभी अवस्थाओंमें रहनेवाला और अन्य द्रव्योंसे भेद दिखलानेवाला 'गुण' है और उसी गुणकी नवीन २ जो दशाएं हैं वे 'पर्याय' कहलाती हैं। जैसे चेतन द्रव्यमें यदि ज्ञानगुण है तो वह ज्ञान बाल्य, यौवन, प्रौढ़ तथा कौमार आदि सभी दशाओंमें रहेगा किन्तु उस ज्ञानकी पर्याय प्रतिसमय नवीन नवीन ही होगी यानी किसी समय घटाकाररूप वह ज्ञान है अन्य समय पटरूप है तदनन्तर मठरूप है। आदि। यानी ज्ञानगुण जिस जिस नवीन हालतमें होगा उसकी पर्याय भी उसी रूपमें होगी। इसी लिये सारांश यह निकला कि गुण द्रव्यके साथ सर्वदा रहता है और पर्याय केवल एक ही समय तक रहती है।

यहां पर यह कह देना आवश्यक होगा कि प्रत्येक द्रव्यमें बहुतसे गुण रहते हैं जिनको किसी प्रकारसे गिन नहीं सके हैं अतएव उनकी संख्या अनन्त शब्दसे ही कहेंगे, पर्यायोंकी संख्या भी इसीमें शामिल है। अब इस प्रकार द्रव्यकी परिभाषा हो गई कि "अनन्त गुणोंका समुदाय एवं भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकाल संबंधी पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है" क्योंकि एक समयमें एक गुणकी एक पर्याय और दूसरे समयमें उसी गुणकी दूसरी पर्याय हो जाती है। किंतु यह बात ध्यानमें रहे कि गुणोंकी यद्यपि अनेक हालतें होंगी परन्तु उनका स्वरूप नहीं बदलेगा। जैसे मनुष्यका यद्यपि बालक, युवा आदि और दशा होंगी परन्तु वह उन सभी दशाओंमें मनुष्य ही रहेगा अन्य नहीं होगा।

" इस इसीसे पता लगा सके हैं कि द्रव्य क्या वस्तु है और गुण क्या है "। अस्तु।

इसी द्रव्यका यदि अन्य प्रकारसे लक्षण बताया जाय तो इस प्रकार बनता है कि " जो उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य स्वरूप है वही द्रव्य है " अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिला मिलाकर द्रव्य है।

१-नवीन पर्यायका उत्पन्न होना उत्पाद है। पहली पर्यायका नष्ट होना व्यय है और पूर्व स्वभावकी जो स्थिर दशा है वह ध्रौव्य है। ये तीनों सत्तानामक गुणकी हालतें हैं। और यही सत्गुण द्रव्यका एक मुख्य लक्षण है। जिस प्रकार द्रव्यका पूर्वोक्त लक्षण प्रमाणिक है और इसीलिये यथार्थ है। उसी तरह यह लक्षण भी प्रमाणसिद्ध है क्योंकि द्रव्य जिस प्रकार किसी अपेक्षासे नित्य है तथैव किसी अपेक्षासे परिणामी यानी बदलनेवाली भी अवश्य है। यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक वस्तु जैसी है हमेशा वैसी ही रहनी चाहिये बिलकुल न बदलनी चाहिये। किन्तु ऐसा कहीं भी नहीं देखा जाता है। हम देखते हैं किसी समय खेतमें बीज था उसके दूसरे समय वहां अंकुर हो गया है उसके पीछे छोटा पेड़ है तदनन्तर वहां बड़ा पेड़ होगया और फलोंसे परिपूर्ण बन गया। अन्त समय पकर अपने आप सुख गया, यह एक वृक्षका दृष्टान्त है। किन्तु यह हालत सभी पदार्थोंकी है। प्रति समय नवीन २ हालतोंमें बदलती हुई ही वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे बिल्कुल ही बदल जाती हैं। क्योंकि यह नियम है कोई भी पदार्थ न तो बिल्कुल नष्ट ही होता है न सर्वथा नवीन ही उत्पन्न होता है। जिस समय पदार्थ नई अवस्थामें आता है उस समय यद्यपि अपनी पहली पर्यायमें नष्ट हो जाता है। किन्तु अपने स्वभावसे नष्ट नहीं होता है। आम यद्यपि हरे रंगसे पीला रंगका हो गया परन्तु उसमें रंग नामक गुण तब भी था और वह अब भी है। मनुष्यकी बाल्यदशा नष्ट होकर युवावस्था उत्पन्न हो गई किन्तु जो मनुष्यता पहले थी वह अब भी है। हां! पर्याय पलट गई है इससे सिद्ध होगया कि वस्तुमें प्रत्येक समय उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य अवश्य रहते हैं जिससे कि नवीन परिणमन भी होता है और अपने स्वभावका नाश भी नहीं होता है। इसलिये ऐसा नियम बन गया कि जो वस्तु उत्पन्न होती है वही नष्ट होती है और वही स्थिर भी रहती है। तथा जो पदार्थ नष्ट होता है, वही उत्पन्न होता है और वही स्थिर भी रहता है। तथ जो द्रव्य किसी प्रकार स्थिर है वही उत्पन्न होता है और नष्ट भी वही होता है।

यह नियम जब कि प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे निर्बाध सिद्ध है तब परिभाषा इस रूपमें होगी कि जो पदार्थ उत्पन्न हुआ था वही उत्पन्न हो रहा है और वही उत्पन्न होगा तथा जो पहले नष्ट हुआ था, वही नष्ट हो रहा है और वही नष्ट होगा। इसी प्रकार जो वस्तु अपने स्वभावमें स्थिर थी, वही स्थिर है और वही स्थिर रहेगी।

साराश यह है कि यह नियम त्रैकालिक है। इस लिये द्रव्य उत्पन्न होती हुई तथा नष्ट होती हुई भी अपने स्वभावमें स्थिर रहती है।

इसका अर्थ कुछ महाशय ऐसा लगाते हैं कि द्रव्य पर्यायकी अपेक्षा ही परिणामी

है, गुणोंकी अपेक्षा ध्रुव (अविनाशी) है। व महाशय अपनी समझमें भूल करते हैं। क्योंकि द्रव्योंकी पर्यायें जैसे किसी कारण अनित्य अथवा उत्पाद व्ययशाली हैं उसी प्रकार वे ध्रौव्यशाली भी किसी अपेक्षासे हैं। और द्रव्योंके गुण जिस प्रकार ध्रौव्यात्मक यानी नित्य मालूम होते हैं। वे ही गुण किसी तरह अनित्य भी दीखते हैं अथवा इसको इस तरह कहना चाहिये कि उत्पादमें व्यय और ध्रौव्य निवास करते हैं। और व्ययमें भी उत्पाद उत्पाद तथा ध्रौव्य रहते हैं एवं ध्रौव्यमें भी उत्पाद, व्यय अवश्य पाये जाते हैं। यह बात इस तरह सिद्ध होती है कि यदि पर्यायमें कुछ भी नित्यता न हो तो वह क्षणभर भी न ठहर सकेगी और इस प्रकारसे पर्याय ही न रह सकेगी। पर्यायमें कुछ न कुछ नित्यता या स्थिरपन है तभी तो आम कभी हरा और कभी पीला दिखाई देता है। मनुष्य कभी बच्चा और कभी युवा दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा किसी भी रूपमें न दीखेगा। इसी प्रकार गुण भी यद्यपि किसी अपेक्षासे ध्रौव्यात्मक हैं पर तु किसी अपेक्षासे उत्पाद-व्यय स्वरूप परिणामी भी हैं क्योंकि यदि ऐसा न होवे तो गुणोंकी सदा एकसी ही हालत दीखनी चाहिये उसमें किसी भी प्रकार हेरफेर न होनी चाहिये। आमका रूपगुण सर्वदा हरा या पीला ही रहना चाहिये, बदलना न चाहिये, रस भी खट्टा या मीठा ही सर्वदा रहना चाहिये किंतु ऐसा होना प्राकृतिक नियमके विरुद्ध है। अतएव गुण जिस प्रकार सामान्यतया अपरिणामी (नित्य) हैं। विशेषतया वे ही परिणामी भी अवश्य हैं।

इस सभी जमाखर्चका यही सारांश है कि 'अनंत गुण तथा अनंत पर्यायशाली द्रव्य होती है। इसीको दूसरे ढंगसे ऐसा कह सकते हैं कि उत्पत्ति, नाश तथा स्थिर दशाको धारण करनेवाला ही द्रव्य है।

अब द्रव्यका लक्षण तो पूर्णतया प्रमाणरूपी कसौटीपर सुघ चुका जिससे कि हमको प्रकृत विषयपर विचार करनेका अवसर मिल गया। हमको प्रकरणानुसार प्रथम ही यह विचारना है कि वे द्रव्य कितनी हैं। और कैसे हैं ? तत्पश्चात् उसी प्रकरणकी अन्य शंका उपस्थित करके उनका निराकरण करेंगे।

जिस समय हम उपर्युक्त प्रश्नको हल करनेके लिये अपनी प्रतिभाको काममें लेते हैं, उस समय हमको ज्ञात हो जाता है कि इस विशाल संसारस्थलमें दो प्रकारके द्रव्य ही उपलब्ध होते हैं। अर्थात् संसारमें जितने भी अनंत पदार्थ हैं वे दो जातिके हैं—एक तो चेतन है दूसरे अचेतन।

जिन पदार्थोंमें जानने देखनेकी शक्ति है उनको चैतन्यदशासे सहित होनेके कारण चेतन कहते हैं इनको ही 'जीव' शब्दसे पुकारते हैं। और जिनमें जानने, देखने,

सुलदु सके अनुभव आदि चैतन्य शक्तिका विकाश नहीं है व पदार्थ अचेतन हैं जिनको जड या अजीव भी कहते हैं । अस्तु । इन दो प्रकारोंको छोडकर पदार्थोंकी तीसरी और कोई जाति नहीं है । सभी पदार्थ इन्हीं दोनोंके अन्तर्भूत हैं ।

किंतु पदार्थोंकी ये जातियां भी जडवादके इस मध्याह्नकालमें कहना असम्भवसा हो जाता है क्योंकि इस समय मनुष्योंका बहु भाग इस सिद्धान्तको अटल तथा वास्तविक मान बैठा है कि "संसारमें केवल एक अजीव द्रव्य ही है । जिसको हम लोग जीव कहते हैं वह भी जड द्रव्यकी पर्याय है" इसको सिद्ध करनेके लिये वे प्रत्यक्ष, परोक्ष कई प्रकारके प्रमाण तथा दृष्टान्त उपस्थित करते हैं । अस्तु ।

कुछ भी हो । यहांपर यह निश्चय नहीं किया जा सक्ता है कि विचारक व्यक्तियोंकी अधिक संख्या जिस मतव्यको निश्चित करे वही मत यथार्थ होगा और सिद्धान्त भी वही हो सकेगा । क्योंकि सम्भव है कि व सब भूलकर होवें और भेडियाधसानमें आकर उन मनुष्योंकी संख्या बढ गई हो । और उसके विरुद्ध कहनेवाला थोडे मनुष्योंका समुदाय ही ठीक मार्गपर हो । क्योंकि परीक्षकोंका मार्ग यद्यपि आजकल चौडा हो गया है किंतु कषाय और पक्षपातका भाव अभी तक मनुष्योंके हृदयसे विदा नहीं हुआ है । अन्यथा आर्यसमाज सरीखा कुतर्की जनसमुदाय भी 'सृष्टिकर्तृत्व' सरीखे स्थूल विषयपर न उलझा रहता । अस्तु ।

इसलिये जब हमने अपना अनुपम तथा अमूल्य समय विचारनेके लिये प्रदान कर दिया है तब हमारा प्राथमिक कर्तव्य है कि हम इस कंटकको भी अलग कर दें अन्यथा आवागमनके प्रारम्भमें ही मक्षिका छींक देगी जिससे एक पैर भी आगे न चल सकेंगे ।

जडवादको माननेवाले महाशय अपना सिद्धान्त इस प्रकार जमाते हैं कि "संसारमें केवल जड द्रव्य ही है । जीव भी इन्हीं अचेतन द्रव्योंके संगसे उत्पन्न हो जाता है । जगतमें पृथ्वी, जल, अग्नि, तथा वायु इन चार द्रव्योंके चार प्रकारके परमाणु भरे हुए हैं । उन्हीं परमाणुओंके परस्पर मिल जानेपर जल, पृथ्वी आदि अनेक प्रकारके पदार्थ बन जाते हैं । जिस प्रकार गुड, महुवा, धतूरा आदिके मिलापसे गहरा नशा या बेहोशी लानेवाली मदिरा बन जाती है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतके संयोग (मिलाप) होनेसे चेतन शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसको जीव कहते हैं। वास्तवमें जीव नामक कोई पदार्थ अलग स्वतन्त्र नहीं है । इसलिये संसार केवल जड पदार्थसे ही भरा है " ये लोग इसी कारण ऐसा कहते हैं कि परलोक कोई वस्तु नहीं है । अस्तु ।

इस मतको युक्तियों व, असत्य सिद्ध करनेके प्रथम उससे सम्बन्ध रखनेवाला कुछ विषय कह देना आवश्यक होगा जो कि इस प्रकार है ।

जिस प्रकारका कारण होता है कार्य भी उससे वैसा ही होता है। अर्थात् उपादान कारण जिस जातिका होगा कार्य भी उस उसी जातिका उत्पन्न होगा। जैसे मनुष्यसे मनुष्य ही उत्पन्न होता है और घोड़ेमें घोड़ेकी ही उत्पत्ति होगी। तथैव चनेका बीज चनेका वृक्ष ही उत्पन्न करेगा और आमके पेड़पर आमका फल ही लगेगा उसपर केला कभी नहीं लगेगा। क्योंकि उस फलका कारण दूसरा ही है। इसलिये यह नियम बन गया कि चनेको चाहे जैसी भूमिमें बोदें और उसमें भले ही जैसा खाद दें किन्तु उससे गेहूं कभी नहीं होगा उससे चना ही होगा। आमके वृक्षपर हमारे प्रयत्न करने पर भी केला उत्पन्न न हो सकेगा।

इससे हमको यह सार मिल गया कि जिस जातिका कारण होगा कार्य भी उससे उसी जातिका उत्पन्न होगा। अन्यथा नहीं।

अब हम अपने प्रकरणपर आते हैं। जड़वादियोंका जो यह कहना है कि "गुड़ धतूरे आदिके मिलानेसे जिस तरह शराब बन जाती है जीव भी उसी प्रकार पृथ्वी जलादिक चार भूतोंके मिल जानेपर बन जाता है। यह कोई अलग नया पदार्थ नहीं है" आदि। इस विषयमें हमको प्रथम ही यह देखना है कि शराबमें जो मादक (नशा) शक्ति है वह उसके कारणोंमें है या नहीं है? क्योंकि उसके कारणोंमें ही यदि वह शक्ति होगी तब तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि शराबसे बहुत गहरा नशा आता है क्योंकि वह नशा उनके कारणोंमें पहलेसे ही था। यदि उन कारणोंमें वह नशा नहीं होगा तो अवश्य ही एक आश्चर्यकी बात ठहरेगी।

शराब बननेके उपादानकारण महुआ, धतूरा, गुड़ तथा एक मादक फलका चून आदि है। इन वस्तुओंको यदि पृथक् पृथक् ही कोई मनुष्य खावे तो उसको थोड़ा बहुत अवश्य नशा आ जाता है। शिरकी पीड़ा, बुद्धिका बिगड़ जाना, स्वस्थ दशा न रहना ये सभी बातें केवल एक एक पदार्थको भक्षण करनेसे ही हो जाती हैं। यदि इन सबको मिलाकर कोई पाक तयार किया जाय तब तो वह नशा और भी बढ़ जायगा क्योंकि व सब एक स्थानपर मिल गये हैं। बस यही शराबकी हालत है। जो चीजें पृथक् २ कम नशा लाती थी उन्हींको मिलाकर शराब बना लेनेपर उन वस्तुओंका मद तीव्र हो जाता है। और इसके सिवाय और कोई नवीन बात नहीं होती है। इससे यह सिद्ध हो गया कि शराबके कारण ही मादक हैं, उसमें यदि मादक शक्ति आगई तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। क्योंकि नशीले कारणोंसे जो पदार्थ उत्पन्न होगा वह नशीला अवश्य होगा। अस्तु।

इसलिये जड़वादियों द्वारा दिया हुआ मदिराका दृष्टान्त तो टूट गया। अब प्रधान विषयपर प्रकाश डालते हैं।

" पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतोंके द्वारा जीव उत्पन्न होता है अर्थात्

जीवके उपादानकारण पृथ्वी, जलादिक हैं ॥ भूतवादी इसी सिद्धान्तपर अपना पसीना बहाते हैं। अस्तु।

यहांपर हमको दो प्रश्न उठते हैं। कि इन चार प्रकारके भूतोंमेंसे केवल एक एक भूत ही जीवको उत्पन्न कर देता है। अथवा ये सभी मिलकर जीवको उत्पन्न करते हैं ?।

यदि भूतवादी जनता पहले पक्षको ग्रहण करके उत्तर दे अर्थात केवल अलग २ एक ही पृथ्वी आदिक भूतसे जीव उत्पन्न होजाता है। तो फिर यह बिना किसी कष्टमे सिद्ध हो गया कि जीव चार प्रकारके उत्पन्न होते हैं। पहले पार्थिव (पृथ्वीसे उत्पन्न,) दूसरे जलीय, तीसरे आग्नेय और चौथे वायव्य (वायुसे उत्पन्न) क्योंकि जब कि कारण चार प्रकारके हैं उनके कार्य भी चार प्रकारके ही होंगे। किन्तु यह बात कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। जितने भी जीव प्रत्यक्ष होते हैं सभीमें जीवत्वगुण एक सरीखा मिलता है। यद्यपि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक प्रकारके जीवोंका शरीर अनेक प्रकारका है किंतु उन सबमें ज्ञान या चैतन्यशक्ति सामान्यतया समान है। यह दूसरी बात है कि किसीमें ज्ञानकी मात्रा अधिक है और किसी जीवमें अल्प है किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि " मनुष्यका जीव अमुक पदार्थसे बना है इस लिये उसमें ज्ञान सबसे अधिक है और हाथीका जीव अमुक भूतसे निकला है इस लिये उसमें मनुष्योंसे कम और पशुओंसे अधिक ज्ञान है। तथा गधा, ऊंट, बैल, उल्लू आदि अमुक भूतसे उत्पन्न हुए हैं इस लिये ये बुद्धिमें तथा समझमें गधा, उल्लू आदि ही हैं "।

क्योंकि एक जातिके जीवोंमें भी ज्ञानकी कमी वेशी मिलती है। मनुष्योंमें ही देख लीजिये, जितने मनुष्य हैं उनके ज्ञानमें उतने ही भेद हैं। सारांश यह है कि ज्ञान (चैतन्य) गुण सामान्यतया सभी जीवोंमें है। इसके अतिरिक्त जीवोंके शरीर भी चार प्रकारके नहीं मिलते हैं जिनसे उपर्युक्त बात सिद्ध हो जावे किंतु जितने प्रकारके जीव जन्तु हैं सभीके शरीर भिन्न २ प्रकारके हैं। इस लिये भावार्थ यही निकला कि पृथक पृथक केवल एक एक भूतसे ही जीव उत्पन्न नहीं होते हैं।

यदि कोई महाशय दूसरा पक्ष लें कि चारों भूत मिलकर जीवको उत्पन्न करते हैं। जैसे महुआ, गुड आदि मिलकर शराबको उत्पन्न कर देते हैं।

तो उनके लिये यह उत्तर तयार है कि जैसे उपादान कारणका धर्म कार्यमें आया करता है। जैसे घड़ेमें उसके उपादान कारण मिट्टीका धर्म आता है। महुआ आदि नशीले पदार्थोंका नशीला गुण उनसे बनी हुई शराबमें आजाता है। यह प्राकृतिक अटल नियम है। इसी प्रकार जीवमें जो चैतन्य गुण दीखता है वह उसके उपादान कारण जलादिकोंमें भी दीखना चाहिये। ज्ञानकी थोड़ी,अधिक मात्रा अवश्य दृष्टिगोचर होनी चाहिये।

किंतु ऐसा नहीं है। जल, पृथ्वी आदिमें अल्प भी ज्ञानशक्ति नहीं मालूम होती है फिर उनसे बने हुए जीवमें वह शक्ति कहांसे आ सकती है? । आवेगी भी कहांसे ? ये सब कारण तो अचेतन हैं। इस लिये यह सिद्ध हो गया कि ये चारों भूत जीवके सजातीय नहीं हैं किंतु विजातीय हैं। और यह नियम ही है कि जिस जातिका कारण होगा, कार्य भी उससे उसी जातिका उत्पन्न होगा।

इस लिये यह सिद्ध हो गया कि अचेतन भूतोंसे चेतन जीव कभी उत्पन्न न हो सकेगा अन्यथा पृथ्वीसे जल और जलसे अग्नि भी पैदा हो सकेगी जिससे भूत चार प्रकारके ही हैं उनसे पदार्थ भी उसी जातिके उत्पन्न होते हैं, यह उनका सिद्धान्त बिगड जायगा। किन्तु होता ऐसा भी है, पार्थिव लकडीसे अग्नि, जलसे पार्थिव ओला और दीपककी अग्निसे पार्थिव काजल बन जाता है।

यहां यदि यह कहा जाय कि उन चार प्रकारके पदार्थोंसे शरीर बन जाता है और शरीरमें चेतनशक्ति अपने आप आजाती है अर्थात चेतन शक्ति शरीरका ही गुण है।

यह कहना भी पर्याप्त न होगा क्योंकि यदि ज्ञान शरीरका ही गुण होता तो शरीरके अनुसार ही उसमें कमी वेशी होती किन्तु ऐसा है नहीं, शरीर वैसा ही बना रहता है किन्तु जीवमें बहुतसे विकार हो जाते हैं। शरीर कभी मोटा हो जाता है कभी पतला। किन्तु ज्ञान उतना ही बना रहता है। मृतकका शरीर जैसेका तैसा बना रहता है किन्तु उसमेंसे चेतनशक्ति निकल जाती है। इसके अतिरिक्त जीव यदि शरीरका ही गुण स्वरूप होता तो शरीरके अनेक खंड कर देने पर सबमें पृथक् पृथक् जीव मिलना चाहिये। जैसे कि घडेके अनेक खंड कर देनेपर सबमें मिट्टी तथा उसका गुण अवश्य मिलता है। शरीरके खंडोंमें ऐसी बात मिलती नहीं है।

इस लिये अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि जीव शरीरादिक जड पदार्थोंसे भिन्न एक निराला ही पदार्थ है जिससे कि संसारमें केवल जीव तथा अजीव दो ही द्रव्य हैं यह अनायास सिद्ध हो गया।

यहां पर इतना कह देना आवश्यक होगा कि जीव द्रव्यका संक्षिप्त वर्णन भी अधिक समय तथा स्थान चाहता है अतएव उसको यहीं छोड देते हैं। इसके सिवाय उसके भेद प्रभेद भी असंख्यात तथा अनंत है। उनको भी हम यहां बतलानेमें सर्वथा असमर्थ हैं। अस्तु। किन्तु इतना ध्यानमें रखना चाहिये कि सर्व जीवोंमें गुण तथा शक्तियां समान विद्यमान हैं यह दूसरा विषय है। किसी विशेष कारणवश किन्हीं जीवोंमें कोई गुण थोडे व्यक्त हैं और कुछ जीवोंमें अधिक प्रगट है।

अब अजीव द्रव्य शेष रहा जिसका व्याख्यान आवश्यक तथा अनिवार्य है। अस्तु। जीव द्रव्यको छोडकर शेष जो भी द्रव्य हैं वे सभी अजीव द्रव्य हैं क्योंकि उन सभीमें चेतनराहित्य अथवा, अजीवत्व भाव विद्यमान है। अतएव सामान्यतया उन सभीको एक जातिका कह दिया जाय तो भी अनुचित न होगा। किन्तु उनको विशेष विशेष, अनिवार्य भेदोंके कारण विभक्त करना ही चाहिये।

अब अपना मानसिक बल इसी पर लगाते हैं कि अजीव द्रव्य कितने प्रकारोंमें विभक्त है अथवा हो सका है।

तब सबसे प्रथम जीव द्रव्यको छोड देनेपर जितना भी कुछ दिखलाई देता है वह सभी पुद्गल द्रव्य ही दृष्टिगोचर होता है जिसको कि मूर्तिक द्रव्य भी कहते हैं। संसारमें चर्मचक्षुओंसे तथा इतर कर्णेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियोंसे जो कुछ उपलब्ध होता है सभी पुद्गल द्रव्य है। यहांतक कि यदि सूक्ष्म विचार न किया जाय तो पुद्गल द्रव्यको छोडकर जीव द्रव्य भी सिद्ध नहीं होता है। अस्तु।

पृथ्वी, पर्वत, समुद्र आदि जितने भी पदार्थ हैं सभी पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। यहां तक कि जीवद्रव्य जिस घरमें निवास करता है वह शरीर भी पुद्गलमय है। इसलिये इस पुद्गल द्रव्यको सिद्ध करनेका परिश्रम नहीं करना पडेगा क्योंकि जनसाधारण पुरुष भी अपने नाननेत्रोंसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे सहजमें ही इस द्रव्यसे पूर्ण परिचय हो जाता है।

हां! एक बात अवश्य कहना है जो कि प्रायः अस्पष्ट तथा विवादास्पद है। वह यह है कि जिस प्रकार पुद्गलमें रूप गुण है और वह पूर्णतया स्पष्ट है उसी प्रकार उसके अविनाभावी या साथ साथ रहनेवाले तीन गुण और भी हैं। जिनका ज्ञान नेत्रेन्द्रिय के सिवाय अन्य इन्द्रियोंसे होता है। वे गुण रस, गंध तथा स्पर्श हैं जो कि प्रत्येक पुद्गल पदार्थमें अवश्य विद्यमान हैं।

इसलिये पुद्गल द्रव्यका यह लक्षण बन गया कि, 'जिसमें रूप, रस, गंध तथा स्पर्श ये चार गुण पाये जाय वह पुद्गल है।' इन चारों गुणोंमेंसे किसी पदार्थमें चारों गुण ही व्यक्त हैं और कुछ पदार्थोंमें कोई गुण ही व्यक्त है शेष अव्यक्त रूपसे रहते हैं। किन्तु यह नियम है कि जहां इन चारोंमेंसे कोई एक गुण होगा वहींपर शेषके तीन गुण भी अवश्य मिलेंगे। यह नियम हमको उन अनेक प्रकारके नाना पदार्थोंके अनुभवसे ज्ञात हो जाता है। जैसे आमको खानेसे उसका मीठा रस मालूम हुआ, सूंघनेसे सुगंध भी उपलब्ध हुई। कोमल, ठंढा, भारी, चिकण, स्पर्श भी पाया गया। इसी प्रकार गुलाबके इत्रमें जैसे सुगंधि उपलब्ध होती है उसका रंग तथा स्पर्श भी उसी प्रकार मिलता है और स्वाद लेनेपर उसमें किसी न किसी प्रकारका रस भी मालूम होता है। इसको सब कि

ऐसा नियम या इन गुणोंका साहचर्य प्राय सभी अनुभूत पदार्थोंमें मिलता है तब इ
बातसे हम सभी पुद्गलीय पदार्थोंका स्वभाव बरोवरीक यथार्थ जान सके हैं।

अतएव कोई महाशय जो ऐसे सिद्धांत बनाते हैं कि " जलमें स्पर्श
तथा रूप है, अग्निमें स्पर्श तथा रूप है। तथा वायुमें केवल स्पर्शगुण ही विद्यमान है"
उनका यह सिद्धान्त स्वयमेव विचारकर धराशायी हो जायगा। क्योंकि जलमें जब
रस रूप स्पर्श पाये जाते हैं तब उसका अविनाभावी गंध उसमें अवश्य रहेगा। अग्नि
कोई न कोई गंध तथा कोई न कोई रस अवश्य है क्योंकि उसमें स्पर्श तथा रूप मिल
है इसी प्रकार वायुमें भी जब कि शीत या उष्ण स्पर्श एव वजन पाया जाता है तो उ
गंध, रूप तथा रस भी अवश्य होने चाहिये। जैसे आमका फल।

बात केवल यही है कि इन पदार्थोंमें कोई कोई गुण मुख्य तथा व्यक्त हैं शे
गुण उतने तीव्र नहीं हैं किंतु हैं अव्यक्त। जैसे हींगमें बेलाके तेलमें केवल गंध गुण
तीव्र है किंतु उसमें रस भी अवश्य रहता है, यही दशा उपर्युक्त पदार्थोंकी भी है
इस लिये भले प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थमें स्पर्श, रस गंध त
रूप ये चारों गुण अवश्य पाये जाते हैं। अतएव प्रत्येक स्थलमें इन गुणोंमेंसे किसी
गुणके रहने पर अवशिष्टके इतर गुण भी अवश्य रहेंगे। इस पुद्गल द्रव्यका भी उदाहरण
शक्तिसे बहिर्भूत है। अतएव इसके विशेष परिचयसे विराम लेते हैं।

अजीव द्रव्यमें एक प्रकारकी द्रव्य तो सिद्ध हो गई जो कि पुद्गल है। अब उ
अजीव द्रव्यको इतर प्रकार भी देखना चाहिये।

यह विदित सभीसे सुपरिचित है कि कार्यको देखकर उसके कारणका अनुम
होता है। जैसे वृक्षको देखकर जान लेते हैं कि इसको उत्पन्न करनेवाला प्रथम ही बी
अवश्य होगा। सिद्धान्ती उसी द्रव्यको देखकर पता लगा लेते हैं कि इसको बनानेवा
सूक्ष्म पुद्गल परमाणु हैं। आदि। इसके प्रथम ही यह बात भी ध्यानमें रहे कि प्रत्ये
कार्यको उत्पन्न करनेके लिये जिस प्रकार उपादान कारणका उपस्थित होना आवश्यक
उसी तरह निमित्त कारणका होना भी अनिवार्य है। क्योंकि सूत रहना भी रहे कि
जुलाहा तथा करघा उपस्थित न होगा तो वस्त्र कभी न बन सकेगा। अस्तु।

गमनवर्ती जीव तथा पौद्गलिक सभी पदार्थोंका एक साथ गमन होना बि
ना निमित्त कारणसे ही हो सकता है अन्यथा नहीं। जैसे तालाबमें एक साथ इधर उ
घूमनेवाले मछली, मेंढक आदि इतर भी जलजन्तुओंके आवागमनमें जल निमित्त कारण
उसके बिना उनका गमन नहीं हो सकता है। तथैव अनेक जीव पुद्गलोंका ठहरना
[illegible]

कार्य है । जैसे घड़ेमें जल रक्खा हुआ है वह बिना घड़ेके न रह सकेगा, उसके ठहरनेके लिये कोई न कोइ बाह्य कारण अवश्य चाहिये । इस तरह दो प्रकारके कार्य देखनेमें उनके दो कारणोंका अनुमान होता है जिनके बिना उपर्युक्त दोनों कार्य कभी नहीं हो सकेंगे । इस लिये दो अजीव द्रव्य और भी विद्यमान हैं जो कि अमूर्तिक हैं, इस बातका पूर्णतया निश्चय होता है । इन दो द्रव्योंका नाम धर्म तथा अधर्म है । चलते हुए जीव तथा पुद्गलको साधारण कारण धर्म द्रव्य होता है । किन्तु बलपूर्वक चलाता नहीं है और जीव पुद्गलोंके ठहरनेमें साधारण कारण अधर्म द्रव्य होता है ।

कोई महोदय यदि यह समाधान दें कि जीवोंके तथा पुद्गलोंके चलनेमें और ठहरनेमें जल, पृथ्वी, आदि निमित्त कारण होंगे धर्म अधर्म द्रव्य माननेकी क्या आवश्यकता है ? । तो उन्हें यह बतलाना चाहिये कि आकाशमें उड़नेवाले पक्षीको सहकारी कारण कौनसा होगा ? । वहांके लिये जिस प्रकार धर्म द्रव्यका नाम लिया जायगा उसी तरह अन्यत्र भी उसीको कहना चाहिये । यहां कोइ यदि यह कुतर्क करे कि "इस तरह तो खाने, पीने आदिके लिये भी एक कारण होना चाहिये तथा अन्य तरहकी सभी क्रियाओंके लिये पृथक् पृथक् निमित्तकारण होने चाहिये" तो इसके लिये यही उत्तर पर्याप्त होगा कि उन सभीके लिये अन्न पुद्गलादि पदार्थ विद्यमान हैं ।

इस लिये यह सिद्ध हो गया कि पुद्गलके अतिरिक्त धर्म, अधर्म नामक भी दो अजीव द्रव्यें विद्यमान हैं । ये दोनों सर्वव्यापक, अखण्ड हैं क्योंकि यदि एसा न होय तो सर्व देशवर्ती जीव पुद्गलोंके युगपत् चलने तथा ठहरनेमें सहकारी किस प्रकार होंगे । अस्तु ।

इसके सिवाय अनुसंधान करनेके लिये और भी आगे बढ़ना चाहिये, शायद और भी कुछ हाथ आ जावे ।

जिस समय द्रव्योंके आधारपदार्थोंका विचार आता है उस समय ज्ञात होता है कि समस्त जीव पुद्गलादि द्रव्योंका आधारभूत कोई और द्रव्य भी विद्यमान है । क्योंकि मनुष्य, पशु, पक्षी, पर्वत आदि दृश्यमान सभी पदार्थ पृथ्वीके आधारपर हैं अर्थात् पृथ्वीपर स्थित हैं । और पृथ्वी भी वायुमण्डलपर स्थित है किन्तु वह वायुमण्डल किस आधारपर स्थित है ? । इस प्रश्नको हल करनेके लिये दूसरा द्रव्य मानना अनिवार्य होगा । इतना ही नहीं किन्तु पदार्थोंकी वास्तविक व्यवस्था किस प्रकार कैसी है ? यह शङ्का भी हृदयको विचलित करती रहेगी, जिसको हटाना हमारा प्रधान कर्तव्य होगा । अस्तु ।

जिस प्रकार हेतुओंके बलसे जीव द्रव्य तथा धर्म, अधर्म द्रव्य अप्रकट होने पर भी सिद्ध हो गई तथैव उपर्युक्त शङ्काओंके निराकरणके लिये आकाश द्रव्य भी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, इसको बिना माने कार्य न चलेगा । क्योंकि सकल द्रव्योंको अवगाह

(निवास) देनेवाला सर्वव्यापक यदि कोई पदार्थ न होवे तो ये वायु पृथ्वी आदि विशाल परिमाणधारी पदार्थ कहां समावेंगे । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि पक्षी जिस समय पृथ्वीसे तथा वृक्ष परसे उडकर दूसरे स्थान पर जाता है उस समय वह किस आधार पर गमन कर रहा है ? । इसको विचारनेसे यह पता अवश्य लग जायगा। उस समय वहां पर उसके लिये कोई पदार्थ आधार है । यदि इसके लिये वायुको ही उसका आधार बनाया जाय तो वही प्रश्न पुनः उपस्थित होगा कि वह वायु कहां भरी हुई है ? । मनुष्योंके चलते समय पैर जिस प्रकार पृथ्वीपर स्थिर हैं उसी तरह उनके शरीरका ऊपरी भाग किस स्थानमें ठहरा हुआ है ? । इन शंकाओंको निराकरण करनेके लिये आकाशद्रव्यको अवश्य मानना पडेगा । यही आकाश सर्व द्रव्योंको अवकाश देता है और वह स्वयं स्वप्रतिष्ठित है । क्योंकि आकाशद्रव्यको भी अवकाश देनेवाला उससे बडा अन्य कोई द्रव्य नही है । अतएव यह सर्वव्यापक है । ऐसा कोई स्थान नहीं जहां आकाश न हो । जो पोल दिखाई देती है वह सभी आकाश ही है । यह बात जो कही जाती है कि " इस जगतमें सभी पदार्थ भरे हुए हैं " । यह भी आकाशके लिये ही है । क्योंकि जगत सर्व द्रव्योंका समूह ही कहलाता है अतएव सर्व पदार्थोंका निवास आकाशमें ही हो सक्ता है । यद्यपि यह असंख्यात प्रदेशी है किन्तु अवगाहन शक्तिके कारण अनन्त जीव तथा अनन्त पुद्गल एवं धर्म, अधर्म, द्रव्य इसमें समा जाते हैं । जैसे जलसे पूर्ण भरे हुए कलशमें यदि एक सेर शक्कर और डाल दी जाय तो वह भी उसमें समा जायगी । फिर भी यदि सौ सुइयां और उसमें डाल दें तो वे भी उसमें आ जायगी। इस लिये सम्पूर्ण द्रव्योंको अवकाश देनेवाला सर्वव्यापक आकाशद्रव्य अवश्य है और उसमें जहां तक धर्म, अधर्म, पुद्गलादि द्रव्ये प्राप्त होती हैं वहीं तक जगत है जिसको दूसरे शब्दोंमें लोक या लोकाकाश कहते हैं उसके बाद अलोकाकाश है । यह सप्रमाण युक्तियोंके द्वारा सिद्ध हो गया ॥

इस तरह जीवद्रव्य तथा चार अजीवद्रव्य प्रमाणोंसे सिद्ध हो गई । अस्तु ।

अब हमको यह और अनुसन्धान करना है कि " आकाशद्रव्य जिस प्रकार द्रव्योंके लिये अवकाश देता है । जिससे कि उनकी सुव्यवस्थिति है तथैव प्रत्येक पदार्थको परिवर्तन करानेवाला भी कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये । क्योंकि यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक वस्त्र यदि किसी सुरक्षित स्थानमें भी रखदें तो भी वह कुछ दिन पश्चात् अपने आप जीर्णशीर्ण होकर भस्म हो जाता है । वृक्षपर लगा हुआ हरा आमका फल कुछ दिन पश्चात् क्यों पीला हो जाता है । छोटा बच्चा कुछ दिनोंके अनन्तर क्यों बडा हो जाता है ? आदि ।

अतएव सर्व पदार्थोंका परिणमन करानेवाला एक कोई द्रव्यान्तर अवश्य है यह निश्चय हो गया। उसका नाम "काल" नियत किया है। अस्तु।

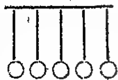
पदार्थोंकी नवीन दशासे जीर्ण दशा करते रहना काल द्रव्यका प्रधान कार्य है। अर्थात् स्वयं परिणमन करनेवाले पदार्थका निमित्तकारण काल है। इसके लिये यदि कोई महाशय समाधान उपस्थित करें कि "पदार्थोंको नवीनसे पुराना बनानेमें घडी, घंटा, दिन आदि कारण हैं कालको एक और द्रव्यान्तर स्वीकार करना व्यर्थ है"।

तो विचारके सन्मुख उनकी यह शंका भी नहीं ठहरती है। क्योंकि घडी, घंटा, दिन, वर्ष आदि सभी व्यवहार हैं। क्योंकि जिस प्रकार "एक मनमें चालीस सेर होता है" यह एक व्यावहारिक बात ही है क्योंकि कार्य चलानेके लिये वैसा मान लिया है, तथैव व्यवहारके लिये ऐसा मान रक्खा है कि सूर्य पूर्वसे पश्चिममें जबतक पहुँचे उतने समयको दिन कहते हैं और उसमें बारह घंटे होते हैं। एक घंटेमें साठ मिनट या ढाई घडी होती है। आदि। क्योंकि यदि कार्य चलानेके लिये हम घंटेको पचालीस मिनटका निश्चय करलें जैसा कि प्रायः स्कूलोंमें किया जाता है तब भी वह घंटा ही रहेगा। पौन घंटा न होगा। इस कारण यह सभी व्यवहार काल है। अतएव वास्तविक काल द्रव्य अवश्य विद्यमान है। क्योंकि जैसे व्यवहारके लिये पाषाणमूर्तिको सिंह तभी कहसके हैं जब कि सिंह नामक यथार्थ कोई पदार्थ अवश्य हो। इसी प्रकार घंटा, घडी, समय आदि तभी कहा जाता है जबकि कोई असली काल पदार्थ है। उसीसे कार्य चलानेके लिये अनेक प्रकारके अनेक संकेत बना लिये हैं। यह व्यवहारकाल पदार्थोंके पर्याय बदलनेसे, सूर्य, चन्द्रादिकी गमन आदि क्रियाओंसे, समयानुसार पदार्थोंके छोटेपन और बडेपनसे जाना जाता है। और निश्चय या यथार्थ अथवा वास्तविक काल द्रव्यके बिना यह व्यवहारकाल सिद्ध नहीं हो सक्ता है। इसके अतिरिक्त एक यह भी समाधान है कि जगतमें ऐसी कोई भी एकाकी (अकेला) या असमस्त (समाससे रहित) शब्द नहीं है जो कि किसी पदार्थका वाचक न होवे अर्थात संसारमें जितने भी शब्द उपलब्ध होते हैं सभीके वाच्य पदार्थ अवश्य विद्यमान हैं। जैसे खरविषाण, या आकाशपुष्प ये शब्द यद्यपि किसी पदार्थके वाचक नहीं हैं। किन्तु इनके पृथक् पृथक् पद अवश्य ही किसी पदार्थके कहनेवाले हैं। क्योंकि आकाश भी जगतमें एक पदार्थ है ही। और पुष्प भी वृक्षोंपर विद्यमान ही है। इसी प्रकार संसारमें 'काल' शब्द भी मिलता है तब इसका भी कोई न कोई वाच्य अवश्य है यह नियमानुसार स्वीकार करना पडेगा। इसी कालकी सबसे छोटी पर्याय समय कहलाती है। इसी समयके अनुसार प्रत्येक पदार्थका सूक्ष्म परिणमन होता रहता है। काल द्रव्यके अणु (सबसे छोटे खंड) लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर पृथक् पृथक् स्थित हैं इसी कारण कालद्रव्य अन्य

धर्म जानते हुए भी सपूर्णतया न कह सके उन अनंत गुणात्मक द्रव्योंका कथन करनेके हेतु मैं तुच्छमति होकर भी लेखनी ग्रहण करता हूं यह देख विद्वान् लोग मुझे पागल कहेंगे और वास्तवमें ही मेरा प्रयत्न उस बालकके समान है जो दोनों हाथ फैला कर समुद्रका माप बतलाता है कि इतना बडा है। पर हा! जो कुछ कहूंगा सो गुरुगम और अनुभवसे कहूंगा। कहीं चूक हो तो छल नहीं समझना और न गुरुका दोष समझना।

(१) एक कटोरेमें दही रखिये। उसे नेत्र इन्द्रियसे देखिये तो उसमें रंग है, नाकसे सुंघिये तो उसमें गंध प्रतीत होती है, जीभसे चखिये तो उसमें स्वाद जाना जाता है, दहीको हाथमें लीजिये तो उसमें चिकनाहट नरमता और वजनका बोध होता है सारांश! दही इन्द्रिय गोचर है। अब कुछ दही कटोरेमें ही रक्खो और कुछ दही कटोरेमेंसे हाथमें लेओ तो मालूम हो जायेगा कि दहीके खंड होसके हैं। अब हाथमेंका दही कटोरेमें ही छोड देओ तो वह फिर मिल जावेगा। इससे यह भी प्रतीत होता है कि दहीमें इन्द्रिय गोचरताके सिवाय मिलने बिछुरनेका गुण है इस लिये " पुरयन्ति गलयन्ति पुद्गला " की नीतिसे दहीको पुदगल कहना चाहिये। दहीके समान अन्य वस्तुएं भी जो इन्द्रिय गोचर हैं वे सब पुदगल हैं जैसे छडी, घडी, धोती टोपी, कागज कलम, ताला, तलवार, टका, पैसा आदि।

पुदगलोंके ये रूप, रस, गंध, स्पर्श, गुण सदा स्थिर नहीं रहते, सदा बदलते रहते हैं। अर्थात् वर्णसे वर्णान्तर, रससे रसान्तर, गंधसे गंधान्तर और स्पर्शसे स्पर्शान्तर हुआ करते हैं। जैसे जिस आमके फलको हमने कल हरा देखा था वह आम किंतु पीला दिखता है और थोडे कालके बाद लाल दिखने लगता है। जिस फलको हमने कल खट्टा देखा था वह आम मिष्ट देखते हैं और थोडी देरमें विरस हो जाता है। इन गुणोंके गुणांश भी सदा बदलते रहते हैं जैसे जिस ककडीको हमने कल बहुत हरी देखा था आज उसमें कम हरियाली देखते हैं और कुछ कालमें वह पीली दिखने लगती है। ये गुणांश कभी कभी इतने हीन प्रगट रहते हैं कि इन्द्रिय गोचर भी नहीं होते जैसे कि अग्निकी गंध, वायुका रंग इत्यादि। परन्तु यह स्पष्ट है कि वर्ण ५ रस ५ गंध २ स्पर्श ८ इन २० मेंसे जहां १ भी धर्म पाया जावे उसे पुदगल जानो। पुदगलोंकी हालतें सदा बदलती रहती हैं जैसे पानीसे भाप, कुहरा, ओस बादल होते रहते हैं। अथवा अन्न, पानी, हवासे शरीर हड्डी चमडा खून मांस वीर्य आदि हुआ करते हैं। जब ये पुदगल आपसमें टकराते हैं तो वायु मंडलकी हवाको धक्का लगता है फिर वह हवा एक दूसरे वायु कणोंको धक्का देती है यहां तक कि कानकी भित्ति तक धक्का पहुंचता है और आवाज सुनाई देती है।



हैं अब एक गोलीको धक्का देओ तो वह दूसरेको और दूसरी तीसरी आदिको धक्का देगी ऐसा ही शब्दमें होता है। शब्द भींत आदिसे रुक जाता है और कभी उलटकर पुनः सुनाई देता है उसे प्रतिध्वनि कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि शब्द मूर्तीक है और मूर्तीक पुदगलोंसे उत्पन्न है। परन्तु शब्दको पुदगलका गुण नहीं कह सकते, क्योंकि वह पुद्गलमें सदा नहीं रहता और गुण वही होता है जो पदार्थमें सदा रहता है अतः शब्द पुद्गलकी पर्याय याने हालत है। बहुतसे मतान्तर वादी शब्दको आकाशका गुण बतलाते हैं उन्हें हम सम्बोधन करते हैं कि अरूपी आकाशसे मूर्तीक शब्द नहीं निस्पन्न हो सक्ता अगर शब्द आकाशका गुण होता तो लोक अलोक सदा एकसा शब्दायमान रहता और यह घंटेकी आवाज, यह बासुरीकी तान और यह बीनकी ध्वनि है ऐसा बोध नहीं होता। इतने थोड़ेही वक्तव्यसे आप लोग समझ गये होंगे कि जो कुछ इन्द्रिय गोचर है वह पुद्गल है इस लिये अँधेरा, धूप, छाया, प्रकाश, शरीर, वचन, जल, वायु, अग्नि, पहाड, स्वास निस्वास, आदि सब पुद्गल हैं। बिजली, टेलीफोन, रेल, तार आदि सब पुद्गलके चमत्कार हैं। कई मतान्तर वादी कहते हैं कि जो कुछ हम देखते सूंघते सुनते हैं यह सब मिथ्या अर्थात् असत् है। इसका निराकरण हम केवल इतनेमें ही करके आगे चलेंगे कि जो वे यह कहते हैं "कि जगत मिथ्या है भ्रांति है" सो उनका ऐसा कहना भी भ्रांति हुआ अतः उनका मिथ्या भ्रांति रूप वचन भी प्रमाण नहीं है।

अब एक चाक मिट्टीका टुकड़ा लेओ उसमेंका एक खसखससे भी छोटा टुकडा स्लेट पर रक्खो। उस छोटेसे कणके चाकूसे जितने बन सकें खंड करो। उन खंडोंमेंसे सबसे छोटे खडके फिर खंड करो, यदि साधारण प्रकाशसे काम नहीं चले तो धूपमेंसे खंड करो और सबसे छोटे खंडके पुनः खंड करो, यदि साधारण आखोंकी दृष्टि काम न देवे तो चश्मेसे काम लेओ और खंड करो। फिर चश्मा काम न देवे तो माइक्रासकोपसे देखके खंड करो। जब माइक्रासकोपसे भी निरुपाय होते देखो तो बहुत बढ़िया सूक्ष्म दर्शक यन्त्रसे देखकर खंड करो। और जब सूक्ष्मदर्शक यन्त्र भी व्यर्थ होने लगे तो ज्ञानसे खंड विचारो। बस सबसे छोटेमें छोटे पुद्गल अणुको जिसका फिर खंड नहीं हो सके उसे बुद्धिसे विचारो उसीका नाम परमाणु है। ऐसे परमाणु भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वत रहते हैं क्योंकि किसी वस्तुके गुण कभी नष्ट नहीं हो सक्ते। जब कि इन परमाणुओंमें स्निग्धता रूक्षता सदा स्वाभाविक रहती है तो वे एक दूसरे मिला करते हैं और दो तीन चार सख्यात असख्यात अनंतकी संख्यामें भी मिल जाते हैं ऐसी बन्ध रूप दशामें उन्हें स्कंध कहते हैं। अब आप सोच सक्ते हैं कि परमाणु ही असली पुद्गल है जिसकी

ईंट, पत्थर, कागज, कलम आदि हालते हैं। पुद्गल वस्तुका अस्तित्व वर्तमानमें तो स्पष्ट ही सिद्ध है और पूर्वकालमें उसका अस्तित्व हमारी स्मृति सिद्ध करती है कि कल परसों और उसके पूर्वकालमें हमने पुदगलोंको देखा सुना अनुभवन किया था। इतिहास और पुरानी कथाओंसे अनन्त भूतकालके पुद्गलोंका अस्तित्व प्रतीत होता है। अब आगामी कालमें भी पुद्गल पदार्थोंका अस्तित्व रहेगा इसमें कोई सन्देह कर सके हैं अत प्रधान तया इसी पर विचार करना है। पदार्थोंमें गुण होते हैं और गुण वही हैं जो पदार्थोंसे कभी अलहदा नहीं होते सदा सहभावी रहते हैं। धनके कारण मनुष्य धनवान् कहलाता है, उसके पास रहनेसे उटवान और गाड़ीका स्वामी होनेसे गाड़ीवान कहलाता है, ऐसा गुणों और वस्तुओं अर्थात गुण गुणीका संयोगी सम्बन्ध नहीं है क्योंकि धनवान जुदी वस्तु है और धन जुदी वस्तु है। अत अग्निका उष्णताके साथ, जीवका ज्ञानके साथ जैसा सम्बन्ध है वैसा ही गुण गुणीका सम्बन्ध है, कभी ऐसा नहीं हो सक्ता कि अग्निकी उष्णता तो आप रक्खें और अग्निको मैं अपने पास रक्खूं। इसी प्रकार यह भी नहीं हो सक्ता कि आपका ज्ञान मेरी थलीमें रक्खा रहे और आप घर पर बैठे रहें। बस! इसी प्रकार स्पर्श रस आदि गुणोंका पुद्गलसे सम्बन्ध है श्री स्वामी कुंदकुन्द मुनिवरने कहा है कि-

> दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहि दव्वं विणा ण सभवदि।
> अव्वदिरित्तो भावो दव्व गुणाण हवदि तह्मा ॥

भावार्थ—द्रव्यके विना गुण नहीं होते और गुणोंके विना द्रव्य नहीं होते इस लिये द्रव्य और गुणोंका अव्यतिरिक्त भाव है। कहनेका अभिप्राय यह है कि पुद्गलके स्पर्श रस आदि गुण कभी नष्ट नहीं हो सके इससे उसका आगामी कालमें कायम रहना स्पष्ट तया सिद्ध होता है। साराश! पुद्गल थे, हैं और रहेंगे। इसी कारण पुद्गल पदार्थ सत् हैं, सतका कभी विनाश नहीं होता और कभी असत्का उत्पाद नहीं होता यही वस्तुका वस्तुत्व है। सूत्रजीमें कहा है कि सत–उत्पाद, व्यय, ध्रुव युक्त होता है अर्थात वस्तुकी हालतें बदलती रहती हैं पर वस्तु कायम रहती है।

जिस प्रकार पुद्गलमें स्पर्शादि गुण हैं वैसे ही थाली लोटा आदि पर्यायें भी हैं। भेद इतना है कि गुण तो साथ रहते हैं अर्थात सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमश होती हैं अर्थात् क्रमभावी होती हैं। भाव यह कि एक द्रव्यमें एक कालमें एक ही पर्याय होती है पश्चात दूसरी, पश्चात् दूसरी, पश्चात् दूसरी, पश्चात् दूसरी, बस! यही उसका उत्पाद व्यय है अर्थात् एक पर्यायका व्यय हो जाना और दूसरीका प्रगट होना फिर उसका भी इसीमें व्यय हो जाना और तीसरीका प्रगट होना।

अपने हाथमें आटेकी लोई लीजिये वह गेंदके समान गोल है उसे दवा कर बाटी बनाइये अब वाटी पर्याय प्रगट होगई और लोई पर्याय कहां गई ? उसीमें समा गई। अब बाटीको और बढ़ाइये तो रोटी पर्याय प्रगट होगई और वाटी पर्याय उसीमें समा गई। पर लोई, वाटी, रोटी आदि सब हालतोंमें आटा वस्तु मौजूद है। इस थोडेसे ही कथनसे आप समझ सके हैं कि पुद्गल पदार्थोंमें गुण है और पर्य्यायें हैं इस लिये "गुणपर्य्ययवद्द्रव्य" की नीतिसे पुदगलोंको द्रव्य कहना चाहिये। और द्रव्य, वस्तु, पदार्थ, तत्व आदि प्राय एकार्थवाची हैं। समयसारजीमें कहा भी है--

दोहा—भाव पदारथ समय धन, तत्त्व वित्त वसु दर्व।
द्रवनि अर्थ इत्यादि बहु, नाम वस्तुके सर्व॥

यह बात भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि पुदगल परमाणु अनतानत हैं जो नाना अवस्थाओंको प्राप्त हुआ करते हैं और कभी भी सर्वथा नष्ट नहीं होते। यदि पुदगल पदार्थ न होता तो न पानी होता, न हवा होती, न सभा होती न, सभा मडप होता, न शरीरधारी सभापति होते, न सभासद होते और न व्याख्यान होते। साराश ! जो कुछ हम देखते सुनते हैं कुछ भी न होता। स्मरण रहे कि पुद्गल अपने स्वरूपसे ज्ञान हीन और वे जान हैं इस लिये वह अजीव है। साइसके विद्वानोंने जो अब तक ६९। ६७ तत्व खोजे हैं और भी खोज रहे हैं वे सब पुद्गल विज्ञानी वा जड विज्ञानी हैं। परन्तु हम अपने पाठकोंको आत्म विज्ञानकी ओर झुकाया चाहते हैं।

(२) आप अपने एक हाथसे, दूसरे हाथमें चीमटी लीजिये और कुछ ज्यादा दबाइये। तो स्पर्श, रस, गध, वर्णवत शरीरके सिवाय एक और विलक्षण पदार्थ ज्ञात होगा जिसे यह बोध होता है कि हमें दु:ख हुआ, हमें दबाया है, हमने दबाया है, हम पकडे गये, हमने जाना, हमने देखा। यह जानने वाला शरीरके लक्षणोंसे भिन्न लक्षणोंवाला है बस ! यही ज्ञायक लक्षण आत्मा है और वास्तवमें यही तुम हो, तुम शरीर नहीं हो आत्मा हो जीव हो। जीवके रहते जड़ शरीरको लोग जीवित कहते हैं। मुख्यतया हमें जीव पदार्थको ही समझना और समझाना है क्योंकि अहिंसा और आत्म बलका सम्बध जीव पदार्थ ही से है। यह आत्मा शरीरसे इतना तन्मय रहता है कि शरीरको पकडो तो आत्मा भी पकड़ा जाता है शरीरको पीटो तो आत्मा पिट जाता है। क्या झाड क्या चिंटी क्या हाथी सबके शरीरमें आत्मा रहता है। इन्द्रियोंके व्यापार और कायकी चेष्टासे उसका अस्तित्व प्रतीत होता है। परतु शरीरकी अचेतन परणतिसे जीव की चेतन्य परणति जुदी देखनेमें आती है। जिसे लोग मरजाना कहते हैं उससे जीव पुद्गलकी पृथकता स्पष्टता सिद्ध है। भूत प्रेत, पूर्वभव स्मरण आदिके दृष्टात जगह जगह

मिलते हैं। मथुराके एक नामाङ्कित श्रीमानके यहां पुत्र था जो अपने पूर्व भवका हाल पूरा पूरा और काबिल यकीन बतलाता था। इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव पहिले शरीरमें था और एक शरीर छोड़ने पर उसने दूसरा शरीर धारण किया। अर्थात् जीव था, है, और रहेगा। क्योंकि शरीरकी स्थितिकी अवधि सिद्ध है और जीवकी स्थितिकी अवधि नहीं है। वह अपरिमित कालसे है और पूर्ववत अपरिमित काल तक रहेगा। शरीरका छोड़ना और ग्रहण करना कपडे बदलनेके समान है। अज्ञानसे जैसे हम कपड़ोंके सयोग वियोग, नवीन प्राचीन पनेमें हर्ष विषाद करते हैं वैसे ही शरीरमें मिथ्या अह बुद्धि करनेसे राग द्वेष होता है। परन्तु शरीर पुद्गल है जड़ है जीवसे पर है। आत्मा चैतन्य है ज्ञाता है और स्व है तथा अचेतन परणतिसे निराला है। यद्यपि यह रग, रस, गध रहित होनेसे इंद्रियगोचर नहीं है तथापि स्वानुभव गोचर अवश्य है। इसीका नाम भेद विज्ञान है और यही सम्यक् दर्शनका कारण है।

आधुनिक आन्दोलनकी सफलताके हेतु ऐसे विज्ञानकी अतीव आवश्यकता है। जिन्हें इस प्रकारका दृढ विज्ञान है वे ही शांति और सत्याग्रह धारणकर सके हैं। वे ही सच्चे स्वयम् सेवक बन सके हैं और उनके ऊपर दमन नीतिका बल नहीं चलता। वे दमनको भी शमन समझते हैं और और अतमें दमन ही का शमन होता है।

सुवर्णकी धातुको जब हम देखते हैं तब धातुमें वमन आदिसे सोनेका अस्तित्व प्रतीत होता है पर सुवर्णका असली रूप प्रगट नहीं दिखता। यदि धातुको विवेक पूर्वक भट्टीमें तपावें तो उज्वल सुवर्ण जुदा हो जाता है और किट्टिमा जुदी रह जाती है इसी तरह जब जीवात्मा तपकी अग्निसे तपाया जाता है तब वह उज्वल होकर शरीरसे अलहदा हो जाता है ऐसा अशरीरी आत्मा पापके बोझसे रीता होकर उपरको गमन करता है और लोकाग्रमें आके टिकता है (लोकाग्रका स्वरूप धर्म द्रव्यके कथनमें स्पष्ट हो सकेगा।) यह अशरीरी आत्मा सब पदार्थोंमें सारभूत, शुद्ध, बुद्ध, निरविकल्प, आनन्द कन्द, चिद्चमत्कार, विज्ञानघन, परमदेव होता है। यही हमारी आत्माका वास्तविक स्वरूप है और हमें उपादेय है। ऐसे ही आत्मा पूर्ण आत्मबल सम्पन्न और सच्चे अहिंसक हैं। यहां नौकर शाहीकी हुकूमत नहीं पहुचती और न पर राष्ट्र उनका रक्त चूस सकती है। ये सच्चे स्वराज्यको प्राप्त हैं। गुलामगीरी उनके स्वभावमें नहीं है। उनके पूर्ण ज्ञानका चरखा सदा ध्वनित रहता है और पूर्ण आनन्दका एकसा सूत निपजाता है कभी तागा टूट नहीं सक्ता।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार साबुनसे धोनेपर गदे और मलिन कपडे निर्मल होजाते हैं उसी प्रकार पराधीन और इन्द्रियोंके विषयोंकी गुलामगीरीमें सुख माननेवाले हमारे आप जैसे गदे आत्मा षट् द्रव्य विज्ञानके साबुनसे उज्वल हो जाते हैं। श्रीसमयसारजीमें कहा है—

दोहा,–भेदज्ञान साबू सरस, सम रस निर्मल नीर।
धोबी अंतर आत्मा, धोवै निज गुण चीर॥

बस! षड् द्रव्यके ज्ञान और जैन धर्मका यही महत्व और फल है कि चिंटी आदिके शरीरमें रहनेवाला और जलियाना बागसे भी भयकर यातना भोगनेवाला परतत्र आत्मा उन्नति करते करते त्रैलोक्यका शिखामणि होता है जिसकी सच्ची स्वतत्रता कल्प काल तक क्या कभी भी नष्ट नहीं होती।

अब तो बिल्कुल स्पष्ट सिद्ध हो गया कि जीव पदार्थ सदाकालसे था है और रहेगा। विशेष यह कोई जीव तो गदे कपड़े जैसी ससारी दशामें रहते हैं और कोई उज्जल कपडे जैसी सिद्ध दशामें हैं जहा फिर मलिनता नहीं पहुचती। श्री गोमट्टसार आदि महाशास्त्रोंमें जीवोंकी गदी और उज्ज्वलताकी अवस्थाओं तथा उनके कारणोंका वर्णन है जिसका यहा उल्लेख करना गागरमें सागर भरनेके समान नितान्त कठिन है।

केई मतातर वादी कहते हैं कि मोक्ष होनेपर आत्मा शून्य हो जाता है कोई कहते हैं, परमात्मामें लय हो जाते हैं, कोई कहते हैं कि चिरागके समान बुझ जाता है, कोई कहते हैं कि जड हो जाता है इत्यादि अनेक कल्पना करते हैं। परन्तु हम पूर्वमें स्पष्ट कर आये हैं कि किसी पदार्थके गुण कभी नष्ट नहीं हो सकते अत चेतियता चेतना चेतता था चेतता है और चेतता रहेगा।

जिस तरह एक छाया पर दूसरी तीसरी आदि करोडों छाया समाया करती है उसी प्रकार।

एक माहीं एक राजे एक माहि अनेकनो।
इक अनेककी नहीं सख्या, नमों सिद्ध निरंजनो॥

मनुष्यके आकारकी मैनकी एक पुतली बनाइये उसे कारीगरीके साथ लोहेसे मढ दीजिये। फिर उसे तीक्ष्ण आच दिखाइये तो मैनकी खाक भी नहीं बचेगी सब उड जावेगा। यदि छतके ऊपर बडा चुम्बक लगाया जावे तो वह पुतली ऊपर जा लटकेगी। अब उस लोह पुतलीके अदर जो पोल है वह सिद्धात्माकी आकृतिका दृष्टात है। भेद यही है कि वह पोल अजीव है और शुद्धात्मा चैतन्य मूर्ति आनदकद है। बहुतसे मनुष्य मोक्षमें जा टिकनेको एक कैदखाना कहने लगते हैं सो उनका कहना उन स्वराज्य द्रोहियोंके समान है जिन्हें गुलामगीरीकी बद–आदत बहुत कालसे पडगई है। उन्हें स्वराज्यकी प्राप्तिमें दुख ही दुख दिखता है वे स्वराज्य नहीं चाहते, दासता ही के टुकडोंमें प्रसन्न हैं।

स्वामी दयानंद सरस्वतीका अनुमान था कि मुक्तात्मा परिमित कालमें मुक्तपुरीसे हकाल दिये जाते हैं। परंतु स्मरण रहे कि जिस प्रकार बीजके अत्यंत जल जानेसे उसमें फिर किसी भी कारणसे अंकुर नहीं होता उसीप्रकार कर्मके अत्यंत विदग्ध हो जानेसे फिर भवांकुर नहीं होसक्ता। स्वामीजीको यह भी डर था कि मोक्ष होते होते संसारकी जीव राशि शून्य हो जावेगी। इसका समाधान उन सज्जनोंकी समझमें शीघ्र आसकेगा जो दशमलवका गणित जानते हैं। यह देखिये १ पूर्णांक जीव राशि है। इसके पीछे दश-मलवबिंदी देनेसे (.१) इसका मान दस गुणा घट जाता है। फिर दशमलव बिंदीके आगे शून्य ० रखनेसे उसका मान और भी दस गुणा (.०१) जावेगा इस तरह आप चाहे जितने शून्य बढ़ाते जाइये मान घटता ही जावेगा परंतु कल्पात कालतक भी शून्य बढ़ाते रहनेसे दशमलवका अभाव नहीं होगा। इसी प्रकार संसार राशिका अभाव भी नहीं हो सक्ता।

अब यह देखना है कि जो कपड़ा गंदा है वह अपने स्वभावसे ही गंदा है या उसमें कोई दूसरी चीज आ लगी है। यदि गंदापन वस्त्रका निज स्वभाव होता तो वह उज्वल कभी नहीं होता क्योंकि "स्वकं स्वभाव ण विजहति" इससे सिद्ध है कि कपड़ेका स्वभाव मलिन नहीं है, कोई दूसरी चीज जिसे मैल कहते हैं कपड़ेसे चिपक गई है। पर यह अवश्य है कि कपड़ेका ऐसा स्वभाव है कि उसमें मैल चिपक जाता है और मैलका ऐसा स्वभाव है कि वह कपड़ेसे चिपक जाता है। वह वस्तु जो कपड़ेसे चिपक गई है कपड़ेके किस्मकी नहीं है, विजातीय है। इसी प्रकार आत्माको गंदा करनेवाली ऐसी वस्तु है जो आत्माके चैतन्य स्वभावसे विरुद्ध अचेतन है और अरूपी स्वभावके विलक्षण अर्थात् मूर्तीक है। बस इसे ही कर्म कहते हैं। "कर्म भी पुद्गलकी एक अवस्था सिद्ध हो गई"।

जब हमें क्रोध आता है तब आत्माके अंदर बड़ी खलबली मचती है, हम बड़े रंज और गमका अनुभव करते हैं। जिस तरह समुद्रमें ज्वार भाटा होता और उथल पुथल होती है उसी प्रकार शांतिके समुद्र आत्मामें बड़ी बेचैनी होती है। पर थोड़ी देरके बाद वह बेचैनी शान्त हो जाती है और मालूम होता है कि किसी चीजका असर था जो उतर गया। इससे भी प्रतीत होता है कि ये सब हरकतें करनेवाले आत्म स्वभावसे भिन्न पुद्गल पदार्थ हैं। ये आत्मामें विभाव उपजाते और शरीर आदिमें अहंबुद्धि पैदा करते हैं। परंतु जिन्हें जीवाजीव द्रव्योंका सच्चा ज्ञान है वे आत्मासे शरीरको सर्वथा भिन्न और कोसों दूरके समान अनुभव करते हैं। वे सच्चे महात्मा ही हैं। उन्हें मरनेका डर नहीं। दमन नीति उन्हें काबूमें नहीं ला सकी। जेलमें और महलमें उन्हें अन्तर नहीं दिखता। चाहे उनसे सुरखी कुटवाओ या चक्की चलवाओ

चाहे किरकिरी मिला हुआ आटा देओ, चाहे मोहन भोग देओ । सदा प्रसन्न रहते हैं । उनके हृदयमें हिन्दू, मुसलमान् आदि एकसे प्रेम बधु झलकते हैं और उन्हें कितनी ही तकलीफें और अड़चनें आवें और कैसी कठिन दमन नीतिसे सताये जावें पर वे सत्या ग्रहसे नहीं डिगते ।

लाओ जिती हो पासमें, हथकडी सांकल बेडियां ।
काटि ग्रीव जघा बाध दो, छाती शिखा पग गडिया ॥
बाकी रहे नहि तन जरा भी, खूब कस कर बांध दो ।
संतर जहलमें सींकचे, ताले लगा कर बांध दो ॥ १ ॥

सारांश ! विकट संकट आनेपर भी सच्चे महात्मा लोग परीषहसे नहीं डिगते । वे तपश्चर्याको कर्तव्य समझते हैं और सच्ची स्वाधीनता पानेमें सफल होते हैं ।

इतने वक्तव्यका सार यह है कि जीव पदार्थका अस्तित्व समझना भी एक प्रकारसे स्थूल है क्योंकि वह हमारे अनुभव गोचर है । वह हमारे शरीरमें है । वह ही हम हैं । पानीमें मीन पियासीके समान आत्माको अन्यत्र नहीं खोजना है । आत्म देव तो देहके देवालयमें ही रहता है । समयसारजीमें कहा भी है—

मत्तगयन्द केइ उदास रहे प्रभु कारन, केइ कहीं उठि जात कहींके ।
केइ प्रणाम करें गढ़ि मूरति, केइ पहार चढ़े चढ़ि छींके ॥
केइ कहै असमानके ऊपर, केइ कहैं प्रभु हेठि जमींके ।
मेरो धनी नहिं दूर दिशान्तर, मो महिं है मोहिं सूझत नीके ॥

यदि जीव पदार्थ न होता तो न तो कोई जानने वाला होता न देखने होता, न स्वाद् होता, न पर राग होता । सब अजीव अजीव ही होते ।

अब जीव भी एक द्रव्य सिद्ध हुआ । जिसमें चेतनादि गुण हैं और संसारी मुक्त अथवा मनुष्य, पशु, देव आदि पर्यायें हैं । इसके पश्चात् हम आप लोगोंका चित्त एक सूक्ष्म पदार्थकी ओर आकर्षित करते हैं ।

६–आप देखा करते हैं कि जो कल था वह आज नहीं है जो बालक थे वे युवक हो गये, युवक थे वे वृद्ध हो गये जो वृद्ध थे वे मृतक हुए । जो शांत थे वे क्रोधित हैं जो क्रोधित थे वे शांत हैं । सारांश जो नवीन था सो पुराना हुआ । अथवा यों कहिये कि पूर्व अवस्था लय हो गई और नवीन अवस्था प्रगट हो गई अर्थात् पदार्थोंकी अवस्थाओंमें परिवर्तन हुआ और हुआ करता है ।

यह रीति कबसे है और कब तक रहेगी इसका उत्तर सोचिये तो यही मिलेगा

कि जबसे पदार्थ हैं और जब तक पदार्थ रहेंगे तब तक बराबर परिवर्तनकी रीति चालू रहेगी अर्थात् अनंत भूतकालसे यह पद्धति चालू है और अनंत भविष्यत कालतक रहेगी।

ऐसा क्यों होता है ? यह विचारें तो अवस्थासे अवस्थातर होनेका असली अर्थात उपादान कारण वे ही पदार्थ हैं जो अवस्थान्तर हुए हैं। यदि दूधमें दही बननेका खासा न होता तो किसकी मजाल थी कि दूधसे दही बना देता। पर विना बाह्य कारणके भी काम नहीं हो सक्ता। विना रई घुमाये अर्थात् मथन किये बिना मक्खन नहीं मिल सक्ता है। दूसरा दृष्टांत लीजिये कि जो कुम्भकारका चक्र घूमता है उसका उपादान कारण चक्र स्वयम् ही है कुम्भकार दंडा आदि प्रेरक कारण हैं परन्तु यदि वह खूटी जिस पर चक्र घूमता है वह न हो तो भी चक्र न घूम सकेगा ऐसे कारणोंको उदासीन निमित्त कारण कहते हैं।

बस ! सब पदार्थोंके अवस्थान्तर होनेमें खूटीके समान जो उदासीन निमित्त कारण है वही काल है। जीव पुद्गलों आदिकी हालतें बदलनेमें वह प्रेरक नहीं, निमित्त रूप है। वह मूर्तीक पुद्गलोंसे भिन्न लक्षणोंवाला अर्थात् अमूर्तीक, और जीवके चैतन्य धर्मसे विलक्षण अर्थात अचेतन ही होना चाहिये।

मिनिट, घन्टा, पहर, वर्ष आदिको लोग व्यवहारमें काल कहते हैं पर यह पुद्गलोंकी परणतिसे प्रगट होता है अर्थात् घड़ीकी बड़ी सुई जब बारा नंबरोंपर चक्कर लगा देती है तब लोग कहते हैं कि एक घंटा हो गया।

स्वामी कुंदकुन्दने कहा है कि "तह्मा कालो पडुच्च भवो" अर्थात् व्यवहार काल पुद्गलाश्रित है परन्तु इस व्यवहार कालसे वास्तविक काल जो पदार्थोंको अवस्थान्तर कराता है निराला है वह जीव द्रव्यके समान अमूर्तीक वस्तु है भेद इतना है कि जीव माप में बड़ा है। और कालका प्रत्येक कण परमाणुके बराबर है। परन्तु परमाणु मूर्तीक है और कालाणु अमूर्तीक है। चांदीकी एक पाट लेओ जो लाखों परमाणुओंके बराबर है यह जीव पदार्थका दृष्टान्त है। अब चांदीकी एक रेतका एक बहुत ही छोटा कण लेओ यह कालाणुका दृष्टान्त है। ऐसे कालाणु सब लोकमें भरे हुए हैं। यह स्मरण अवश्य रहे कि चांदीकी रेतन पुद्गल है उसमें स्निग्धता रूक्षता है जो मिलकर पाट बन जाती है पर कालके दानेमें स्निग्धता रूक्षता नहीं है इससे कालके दाने एक दूसरेसे कभी नहीं बँध सके हैं। इसी कारण वे अकाय हैं।

जिस तरह जीव दूसरोंको जानता और अपनेको भी जानता है उसी तरह काल पदार्थ दूसरोंको वर्ताता और अपनेको भी वर्ताता है। जब कि वह स्वयम् वर्तता है तो उसमें पर्यायें उपजतीं और लय होती हैं। ये अरूपी पर्याय षट् गुण पतित हानि वृद्धिका स्वरूप समझनेसे बुद्धिमें आ सक्ती हैं परन्तु यह विषय सूक्ष्म है यहां लिखनेसे लेख

बाहुल्यता होगी। साराश कालमें गुण और पर्यायें होती है अत वह द्रव्य सिद्ध होता है।

यदि काल पदार्थ न होता तो निमित्तके बिना पदार्थोंकी हालत न बदलती उनमें उत्पाद व्यय नहीं होता। जो पदार्थ जैसा है वैसा ही रहता जो आम हरा है वह हरा ही रहता पीला न होता न सडता और न छोटा बड़ा होता।

हमारे श्वेताम्बर बधु इस अतीव आवश्यक द्रव्यका अस्तित्व नहीं मानते। परन्तु जब वे गति स्थिति स्थानके हेतु, निमित्त भूत धर्म अधर्म आकाशको मानते हैं तो कालके बिना भी काम नहीं चल सक्ता परिवर्तनाके हेतु भी निमित्त होना ही चाहिये।

ब्राह्मण धर्म शास्त्रोंमें भी कालका उल्लेख है। और कहा है—

चौपाई—सिरजत काल सकल ससारा। करत काल तिहू लोक सँहारा॥
सब सोवत जागत है सोऊ। काल समान बली नहिं कोऊ।१।

यह कथन जैन मतके स्याद्वादसे सम्यक् सिद्ध होता है। अर्थात् काल पदार्थ ससारकी नवीन पर्यायोंको उत्पन्न कराता है और प्राचीन पर्यायोंको लय कराता है। परन्तु यदि कोई यह समझ जावे कि काल ही उत्पन्न करता है, काल ही नष्ट करता है तो यह "ही" लगानेसे एकान्तवाद हो जाता है और वह दूषित है॥ कहा भी है—

दोहा—पद स्वभाव पूरव करम, निश्चय उद्यम काल।
पक्षपात मिथ्यात सब, सर्वाङ्गी शिवचाल ॥१॥

कालके सबधमें एक बड़ी भारी शका यह होती है कि काल पदार्थ जब लोक मात्रमें है तो वह अलोकाकाशको क्यों कर परिवर्तित करता है। इसका समाधान कुन्द कुन्द स्वामीने बड़ी कडी युक्तियोंसे किया है उनमेंसे एक मोटीसी यह है कि जिस प्रकार शरीरके मध्य भागमें मैथुन होता है और उसका अनुभव सर्वांग होता है। उसी प्रकार काल भी आकाशके मध्यमें रहके सपूर्ण आकाशको वर्ताता है।

हमारे ऋषियोंकी कथन शैली ऐसी सुन्दर है कि बार बार द्रव्यानुयोगके शास्त्रों का कथन चिंतवन करनेसे अरूपी काल द्रव्य भी स्पष्टतया समझमें आने लगता है।

४—अब हम चौथे पदार्थ पर आप लोगोंका चित्त झुकाया चाहते हैं। आप देखिये पुस्तक टेबिल पर रक्खी है, टेबिल प्लेटफार्म पर है, प्लेटफार्म पृथ्वीपर है, अर्थात् पदार्थोंमें आधार आधेय या क्षेत्र क्षेत्रिय भाव है।

जिस प्रकार जीव पदार्थ अपनेको और सकल पदार्थोंको जाननेवाला,'ज्ञान' इस परमधर्मसे सिद्ध है। अपनेको और दूसरोंको वर्तानेवाला काल पदार्थ 'वर्तना' इस परम धर्मसे सिद्ध है। उसी प्रकार अपनेको और दूसरे समस्त पदार्थोंको क्षेत्र देनेवाला अवगाहना परमधर्मवाला

पदार्थ होना ही चाहिये। उसके बिना द्रव्योंकी सिद्धि नहीं हो सकती। बस! उसीका नाम आकाश है। जो सबको क्षेत्र देनेवाला है, सबका क्षेत्रिय है, सबका आधार है। साराश आकाश और सब पदार्थोंमें आधार आधेय सम्बन्ध है। जिस प्रकार जीवके एक प्रदेशमें भी अपनेको और अनंत पुद्गलों, जीवों, काल आदिको जाननेका सामर्थ्य है, कालके एक प्रदेशमें अपनेको और अनन्त जीव पुद्गलों आदिको वर्तानेकी सामर्थ्य है उसी प्रकार आकाशके प्रत्येक प्रदेशमें जो परमाणुके बराबर होता है अपनेको अनंत जीवों, पुद्गलों और काल आदिको स्थान देनेका सामर्थ्य है। प० प्रवर दौलत रामजी साहबने कहा भी है "सकल द्रव्यको वास जासुमें सो आकाश पिछानो"।

ऊपर आसमानमें जो नीला सा हद्दे नजर दिखता है अथवा जो लाल पीले रंग बदलते रहते हैं उसे बहुतसे लोग आकाश समझ जाते हैं। परन्तु रंग पुद्गलोंमें होता है आकाशमें नहीं हो सकता। आकाश अरूपी वस्तु है।

जब कि आकाश सबका क्षेत्रिय है तो जहां जहां जीवादि पदार्थ हैं वहां वहां आकाशका अस्तित्व सिद्ध ही है। लोकमें तो आकाश है ही। परन्तु उससे आगे, क्या है इस प्रश्नका उत्तर यही मिलेगा कि उससे आगे आकाश है, फिर उससे आगे, आकाश फिर उससे आगे? आकाश! लोकसे आगे भी आकाश है तो वहां जीवादि पदार्थ क्यों नहीं पहुच जाते और लोकको और भी विस्तृत क्यों नहीं कर लेते? इसका समाधान धर्म द्रव्यके कथनसे हो सकेगा।

आकाशमें स्थान दान आदि गुण हैं और काल द्रव्यके समान अरूपी पर्यायें हैं अत आकाशको द्रव्य कहना चाहिये। यदि आकाश न होता तो पदार्थ ही न रह सके। इस लिये लोककी सिद्धिके हेतु आकाशका अस्तित्व मानना ही चाहिये।

५—६—पाठक! जीव, प्रकृति, काल और आकाश तो ससारमें प्राय प्रचलित हैं। अब हम उन अरूपी सूक्ष्म वस्तुओंकी ओर आपकी दृष्टि डालना चाहते हैं जो जैन शासन सिवाय अन्यत्र अप्रसिद्ध ही हैं। जिन्हें स्वामी दयानन्दजी जैसे प्रसिद्ध आर्य विद्वान् न समझ सके और धर्म अधर्म द्रव्यको जीव प्रकृति आदि पदार्थोंके धर्म अधर्म अर्थात् स्वभाव विभाव समझ बैठे और पवित्र जैन धर्मका खंडन अपने सत्यार्थ प्रकाशमें कर गये।

यह देखिये झाडसे एक फल गिरा और धरती पर ठहर गया। लड़केकी पतंग उडते उडते कुएमें पटगई। अभिप्राय यह कि जीव पुद्गलोंमें गमन स्थिति क्रिया देखते हैं। इसका कारण सोचिये तो अंतरंग कारण तो वे ही गमन स्थिर होनेवाले पदार्थ हैं

* पुद्गल

अर्थात् क्रिया रूप परणमनेकी शक्ति उन क्रियावान् पदार्थोंमें ही है। अगर जीव पुद्गलोंमें गमन स्थितिका स्वभाव न हो तो किसीको ताकत थी जो उससे मस कर सक्ता। परन्तु अंतरग कारणके सिवाय बाह्य कारण भी चाहिये। बाह्य कारणके विना भी कार्य नहीं हो सक्ता यह बात न्यायसे सिद्ध है जिसका यहा लिखनेसे विषयांतर होना संभव है।

जब रेलगाड़ी चलती है तो उसके चलानेका उपादान कारण तो वह स्वयम् है एंजिन खींचता है सो वह प्रेरक कारण है। इतना होनेपर भी पातोंके विना रेल नहीं चल सकेगी। अभिप्राय यह कि लोहेकी पातें रेलके चलनेमें उदासीन निमित्त कारण हैं। एंजिन खींचे वा रेल चले तो लोहेकी पटरी सहायक होती है पर रेलको जबरदस्ती खींचकर नहीं चलाती। और न चलती हुईको ठहराती हैं।

साइंसके विद्वानोंका भी मत है कि गति स्थितिके हेतु बाह्य निमित्त अवश्य होना चाहिये। वे लोग बहुत दिनोंसे इसका खोज कर रहे हैं, परंतु उन बेचारोंको अरूपी पदार्थोंका जो प्रत्यक्ष ज्ञान गोचर है कैसे पता लग सक्ता है। बस ! जो गति स्थितिमें निमित्त रूप हैं उन्हीं वस्तुओंका नाम धर्म अधर्म है। ये स्वतंत्र पदार्थ हैं। जिस प्रकार नींबूका धर्म खटाई है, गुडका धर्म मिठाई है।

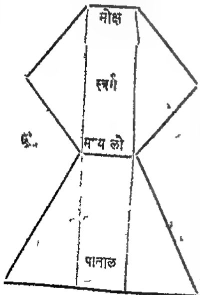
जीवका अधर्म हिंसा वा राग द्वेष है उस प्रकार धर्म अधर्म द्रव्य किसी पदार्थके गुण दोष नहीं हैं वरन जिस तरह आकाश एक द्रव्य है उसी तरह धर्म भी एक द्रव्य है और अधर्म भी एक द्रव्य है। धर्ममें गति सहाई परम धर्म है, अधर्म द्रव्यमें स्थिति सहाई परम धर्म है और दोनोंमें काल द्रव्यके समान् अरूपी पर्यायें हैं। अत. ये दोनों द्रव्य है।

यहां एक प्रश्न होता है कि जैन धर्ममें भी तो अहिंसा आदिको धर्म और हिंसा आदिको अधर्म बतलाया है अथवा "वत्थु स्वभावो धम्मो"की रीतिसे इसी निबंधमें पदार्थोंके चैतन्य आदि धर्म कहते आये हो अब यह निराले पदार्थ कैसे कहते हो ? इसका समाधान इस प्रकार हैं कि एक वाच्यके अनेक वाचक होते हैं जैसे सूर्यके वाचक शब्द दिनकर, दिवाकर, दिनेश आदि हैं। और एक वाचकके अनेक वाच्य भी होते हैं जैसे जैसेकि 'मन' हृदयको (दिलको) भी कहते हैं और मन तौलनेका माप भी होता है। पर जहा जैसा विषय व प्रसंग होता है वैसा ही आशय लिया जाता हैं। क्योंकि संसारमें पदार्थ और उनके गुण बहुत हैं। और कोषमें शब्द थोडे है। इस लिये जहा गुणोंका कथन हो वहां धर्म अधर्म शब्दसे स्वभाव विभावका आशय लेना चाहिये और जहा द्रव्योंका कथन हो वहा धर्म अधर्म शब्दसे दोनों पदार्थ समझना चाहिये।

स्वर्गीय स्याद्वाद वारिधि पूज्य प० गोपालदासजी बरैयाने श्री जैनसिद्धात दर्पणमें एक तर्क निकाला है कि गति स्थितिके हेतु जुदे जुदे दो पदार्थ माननेकी क्या आवश्यक्ता है? इसका समाधान भी उस प्रात स्मरणीय विद्वान्ने किया है कि परस्पर विरोधी धर्म एक ही धर्मीमें नहीं हो सक्ते इस लिये जो पदार्थ चलानेवाला है वह ठहरानेवाला नहीं होसक्ता और जो ठहरानेवाला है वह चलानेवाला नहीं हो सक्ता अत दोनों पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध हैं। और दोनोंकी ही आवश्यक्ता प्रतीत होती है।

अब आप लोगोंकी समझमें आया होगा कि धर्म अधर्म पदार्थ हैं अर्थात् धर्मी हैं और गति स्थिति-सहायकता दोनों के क्रमश धर्म हैं। जिस प्रकार साइंसवालोंने लिखा है कि यदि माध्याकर्षण न होता तो सूर्य चन्द्र अपने मार्गपर न रहते न जाने कहा जाते, यदि परमाणु आकर्षण न होता तो सब चीजें धुलकी दशामें रहतीं। उसी प्रकार जैन ऋषियोंका कहना है कि यदि धर्म द्रव्य नहीं होता तो जो पदार्थ जहा था वहा ही रहता कोई भी पदार्थ नहीं चलते न कोई मोक्ष जाता न कोई देशान्तर जाता। न चरखा चलता, न सूत कतता, न सभा होती, और न आप लोग अपने घरसे आ सक्ते।

और यदि अधर्म द्रव्य न होता चलती हुई कोई भी वस्तु न ठहरती। गिल्लीको डडा मारनेसे वह चली ही जाती फिर न ठहरती। छतरी जो हवामें उड पड़ी थी उडती ही जाती। और सिद्ध आत्मा जो ऊपरको गमन किये थे चले ही जाते कभी भी विश्राम नहीं पाते। यहा तक कि इन दो द्रव्योंके विना लोक अलोकका भी भेद न होता।



यह चित्र देखिये छहों द्रव्योंसे भरे हुए लोकका आकार है। छहों द्रव्य अपने अपने गुण पर्यायोंमें परणमते हैं कोई भी द्रव्य अपने गुणस्वभाव नहीं छोडते और न अन्यके गुण स्वभाव ग्रहण करते हैं। हा! जीव पुद्गल, स्वभाव विभावरूप होते हैं। विभाव परणति निबधका विषय नहीं है होता तो हम उसका कथन करते। पर इतना अवश्य कहेंगे कि एक दूसरेके निमित्त नैमित्तक होनेसे द्रव्योंकी परणति सिद्ध होती है। अत लोकका या द्रव्योंका कोई करता हरता विधाता सिद्ध नहीं हो सक्ता इस लिये सभी द्रव्य स्वयम् सिद्ध हैं। द्रव्योंका समुदाय रूप, लोक, जिसके बलसे अधर खड़ा

है यह कहे विना; हम निबंध पूरा नहीं कर सकते। एक साइंसके विद्वान्ने एक मनुष्यको बिल्कुल निराधार खड़ा कर दिया था। और उसे हमने स्वयम् देखा है। बुद्धिसे सोचा जावे तो यह जीव अजीव ही की करामात है कहनेका अभिप्राय यह कि इतना बड़ा लोक जीव अजीव ही की विलक्षण विद्युतसे जिसे आकर्षण कह सके है अधर खड़ा है। परमार्थ दृष्टिसे सब द्रव्योंके आधार स्वरूप आकाशके आधारपर लोक है और आकाश अपने परमधर्म आधारके आधार है।

छह द्रव्योंके संबंधमें नीचे लिखा पद्य स्मरण योग्य है।

सवैया मात्रिक-

जीव धरम अधरम नभ पुगदल, काल सहित षट द्रव्य प्रमान।
चेतन एक अचेतन पाचों, रहैं सदा गुण पर्जयवान॥
केवल पुगदल रूपवान है, पाचो शेष अरूपी जान।
काल द्रव्य बिन पंच द्रव्यको, अस्तिकाय कहते बुधिवान॥ १॥

उपसहारमें हमें यह कहना है कि निबंधमें कई जगह मतान्तर वादीको लक्ष्य बनाकर संबोधन किया है सो किसीकी निन्दा या विरोधकी इच्छासे नहीं किया है। अब ऐसा कीजिये कि एक घड़ी भरको आपही वादी बन जाइये और कहिये लोककी सिद्धिके वास्ते जीव द्रव्यकी आवश्यकता नहीं है और न उसका अस्तित्व सिद्ध है। तो म कहता हू कि आप कौन है?

अब आप कहियें-हम पुद्गल है शरीर है। शरीरमें शराब कैसा नशा कुछ काल रहनेसे लोग जीव जीव चिल्लाने लगे हैं।

मैं कहता हू-कि शराबका नशा भी जीव ही को होता है। नहीं तो शराबकी बोतलें भी उछलती कूदती फिरतीं इससे जीवका अस्तित्व सिद्ध है।

अब आप कहिये-कि पुद्गल नहीं है।

तो मैं कहता हू-कि यह रंग बिरंगे पदार्थ दिखते हैं सो क्या है?

अब आप कहिये-संसारमें आकाश नहीं है।

तो मैं कहता हू-जीव पुगदल आदि कहा रहते हैं?

आप कहिये-हम कालको कुछ आवश्यकता नहीं समझते।

तो मैं कहता हूं-क्या विना निमित्तके भी कार्य हो सकता है ? संसारमें सभी लोग निमित्तको बलवान मानते हैं।

आप कहिये-लोककी हद माननेकी जरूरत नहीं। वह अनंत है।

मैं कहता हूं-जब सब चीजोंकी हद है तो लोक भी हद सिद्ध है।

आप कहिये-धर्म अधर्म द्रव्यका अस्तित्व मानना अनावश्यक है।

मैं कहता हूं-लोककी हदसे धर्म अधर्म द्रव्योंका अस्तित्व स्पष्ट सिद्ध है।

आप कहिये-इन द्रव्योंका जानने कथन करनेवाला ईश्वर नहीं है।

मैं कहता हूं-कि यहां और इस समय ईश्वर नहीं है कि सर्व काल और सर्व क्षेत्रमें ईश्वर नहीं है।

आप कहिये-कि कभी भी और कहीं भी ईश्वर नहीं है।

मैं कहता हूं-अगर आप सर्व काल और सर्व क्षेत्रको जानते हैं तो आप ही ईश्वर हो।

आप कहिये-कि यदि ईश्वर है तो वह इन द्रव्योंका या जगतका कर्ता अवश्य है।

मैं कहता हूं-कि आप ईश्वरको " निरीह ईश्वर विभु " मानते हैं या नहीं ?

आप कहिये-सब ही ईश्वरवादी प्रभुको निरीह मानते हैं।

तो मैं कहता हूं-कि इच्छा रहित प्रभु इस प्रपंचमें क्यों पड़ने चला ?

आप कहिये-तो सुख दुख कौन देता है।

मैं कहता हूं-जड़ चेतन अनादि संयोगी। आप हि कर्ता आप ही भोगी।

अथवा दोहा-को सुख को दुख देत है, कोन करै झक झोर।
उरझत सुरझत आपही, ध्वजा पवनके जोर॥

अब आप कहिये-कि लोककी सिद्धिके हेतु छह ही द्रव्योंकी क्यों आवश्यकता है ? कुछ कमती मानो ?

मैं कहता हूं-कि छहमेंसे किसको छोड दूं। जिसके विना पदार्थोंकी सिद्धि होती जावे और बाधा न पड़े उसे छोड दूं।

आप कहिये-कि छहसे ज्यादा द्रव्य मानिये।

मैं कहता हूं-कि सातवां आठवां द्रव्य सिद्ध कीजिये।

अस्तु! अधिक कहनेसे क्या? लोककी सिद्धिके हेतु छह ही द्रव्योंकी आवश्यक है और वे स्वयम् सिद्ध हैं।

बहुत लोग रुपये पैसेको द्रव्य कहते है। जब मैं विद्यार्थी था तब मैंने द्रव्य-संग्रह ग्रंथ इस लिये मगाया था कि उसमें रुपये कमानेकी युक्तियां होंगी। लोग रुपय पैसा स्वरूप द्रव्यकी उपासना किया करते हैं सो वह भी द्रव्य ही है पर पुद्गल द्र है उसमें आनन्दका लेश भी नहीं। सदा अपने आत्म द्रव्यका आनन्द लेना चाहिये

छहों द्रव्योंमें आत्म द्रव्य सारभूत और उपादेय है। हे जीव! तुम आत्मा हो आत्मा तुम्हारा है, तुम आत्माके हो। उसे तुम भलेप्रकार जानो, उसका श्रद्धान करो औ उसीमें स्थिर रहो। आत्मा ही तुम्हारा सर्वस्व है, उसी पर अर्थात् अपने 'स्व' के ऊप राज्य करो यही स्व-राज है। ज्यों ही तुम स्वरूपसे चिगते हो त्यों ही पराराष्ट्र अर्था कर्म दल तुम्हारे ऊपर कब्जा कर लेता है या नौकरशाही रूप इन्द्रियोंकी हुकूमत तुम्हें रहना पड़ता है जो तुम्हारे ज्ञान धनका शोषण करती और नाना नाच नचाती तथा तुमसे पूरी पूरी गुलामगारी कराती हैं। ये भांति २की चटमटक और चकाचौंध भ विदेशी वस्तुएं दिखाकर तुम्हें गुलाम और मोहित बना देती है और पराधीनताकी जन रसे काम देती है। फिर तुम इतने मोहताज हो जाते हो कि यदि विदेशी लोग तुम्ह कपड़े सीनेके लिये सुई भी न देवें तो तुम्हें फजीहत होना पड़े। इसलिये उनसे असह योग करदो जो तुम्हारा असली रक्त चूसते हैं। तुम सच्चे स्वदेशी बनो एक क्ष मात्रको भी अपने स्वदेश और देशबन्धुओंका हित मत भूलो। दमन नीतिसे मत ड और अहिंसा पूर्वक सत्याग्रह ग्रहण करके स्वात्मबल बढ़ाओ।

अन्तमें यह कहते हुए निबंध समाप्त करता हूं कि-

सब मित्र पवित्र चरित्र वरौ,
अरु शिक्षित पुत्र कलत्र करौ।
पुनि कौशल काव्य-कला विधिसे,
सजदो इस भारतको निधिसे॥

समाज सेवी—बुद्धिलाल श्रावक-लाडनू (जोधपुर



श्री स्याद्वादविद्यापतये नमोऽस्तु ।

जैन काव्योंका महत्व ।

(जैन साहित्य सभा लखनऊका लेख नं० ४)

(लेखक—पं० बनवारीलालजी स्याद्वादी—मोरेना ।)

वन्दारुवृन्दपरिषद्विलोलिताक्षं वृन्दारकेश्वरकिरीटतटापकीर्णैः ।
मन्दारपुष्पनिकरैर्विहितोपकारं वन्दामहे जिनपतेः पदपङ्कयुग्मं ॥
मुकुरविमलगण्ड चन्द्रसंकाशतुंड गजकरभुजदण्ड कामदाहाग्निकुण्ड ।
विनुतमुनिपषण्ड गोमठेशप्रचण्ड गुणनिवहकरण्ड नौमि नाभेयपिण्डं ॥

आध्यात्मिकजननी, अहिंसाधर्मप्राणा, साहित्यसुन्दरी, परोपकारशीला, विज्ञाननयना भारतवर्षीयार्यजातिके पूर्वेतिहास पर दृष्टि वृष्टि करनेपर यह जाति चारित्रोज्वला, लक्षणानरत्नोंकी प्रसविनी सुस्पष्टतया प्रतीत होती है, किन्तु निरपेक्ष हम यह भी कहेंगे, कि सत्सामयिक कुछ विषयलम्पटियों एवं च स्वधर्मोन्मत्तगणोंने प्रज्वलित-द्वेषाग्निसे दग्ध कर इस आर्यजातिके सर्वोत्तम पूर्वेतिहासको कलङ्क-कालिमामय बना दिया है । इस प्रज्वलित विद्वेषाग्नि हीके कारण गगनस्पर्शी उत्तगशृङ्गसमन्वित हिमधवलपर्वतमाला, एवं भीतिजनक नीलवर्णोत्तलिलपादिपूर्ण समुद्रपरीगे प्राकृतिक आत्मरक्षकोंके उपस्थित रहने पर भी, सुसभ्य ज्ञानालोकसे प्रकाशित अत्यंत उत्कृष्ट धार्मिकवसुन्धरा- भारत पर विधर्मी और विजातीय नीच वैदेशिकदस्युदलके पुनः पुनः आक्रमणोंसे, भारतवर्ष विध्वस्त विपर्यस्त और परपदाक्रान्त होकर अपनी अतुलधनराशि विद्या, सौजीनसभ्यतासम्पत्ति, ऐश्वर्य, आत्मगौरवको पश्चिमीय सागरमें समाधिस्थ कर आज मुट्ठीभर पश्चिमीय जनोंकी तंत्रता (परतन्त्रता)के चुंगलमें फँसा हुआ अपने जीवनमरणके प्रश्न हल करवानेकी अवस्थामें उपस्थित हो गया है । प्रिय पाठकवृन्द ! यहांपर ही मेरे अश्रुप्रपात होकर समाप्त नहीं हो जाते । किंतु—

इस विद्वेषाग्नि तथा च स्वधर्मोन्मत्तता ही के प्रभावसे श्री अहिंसाकांतायुक्त, मान्यक्षमामाणिक्य, मार्दवचन्द्र, आर्जवाचार्य, शौच्यतीर्थभूमि, सत्यरत्नविभूषित, संयमपरिखावेष्टित, तपोभूमि, त्यागजननि, आकिञ्चन्य मूलसे शोभायमान, विश्वप्रमचन्द्रकी ज्योत्स्ना का प्रकाशक, ऐसे जैनधर्मका सार्वभौमिक प्रसार न बढनेके हेतु, विपक्षियोंने जैनधर्मके प्रचारकोंको निर्दयीम कष्ट प्रदानके साथ साथ सहस्रों जिनमन्दिरोंको छिन्न विच्छिन्न, जैनसाहि-

स्थके लाखों ग्रथराशीको नष्ट कर, जैनधर्मितिसे जो संसारको वंचितकिया है। शायद इसी देखने प्रकोपकर भारतमाताके १० कोटि जनोंकी स्वतन्त्रताको अपहरणकर दारुण दु:ख दु:खित किया है। बौद्धमतकी राज्यसत्ताके समयमें जब कि भारतवर्षने प्रशान्त जैनधर्म विद्रा करनेमें किसी प्रकारकी भी कसर नहीं रक्खी थी, वृहद्ग्रथराशीके साथ २ जैनमह काव्योंका भी वृहदंश नाशको प्राप्त हो गया था, और जब कि श्री शंकराचार्यने जैनधर्म नष्टीभूत करनेके इरादासे वर्षों गरम पानी कराकर असख्य जैनग्रथराशीको अग्निदेव भेंट करदी।

हम नहीं लिख सकते हैं कि जैनसाहित्यके प्रसार करनेके कारणभूत महाकाव्यों इस पूर्वेतिहासमें कितना प्रक्षय हुआ होगा।

अब हम अपने विचारशील पाठकोंको इस बृहत् पूर्वेतिहाससे अलग कर अभीके करीब १०० वर्ष पहिले (अर्थात् मुगल बादशाह औरंगजेब) के जमानेमें लिये चलते हैं।

मुगल बादशाहतकी जड़को काटनेवाले इस बादशाहके जमानेमें हिंदू ग्रन्थों तरह कितने ही महीनों तक जैनग्रंथराशिसमुदाय गाँवोंकी तरह जलते रहे। भारतवर्षीय ध्यात्मिक क्षय करनेके लिये जो भारतके असख्य ग्रथभंडार यवनगणोंने नष्ट किये उस भी महाकाव्योंका प्रबल क्षय हुआ।

उस ग्रंथराशीके प्रक्षय युगके समय धार्मिक वीरोंने जो ग्रन्थराशि कदरा गुह दि गुप्त स्थानोंमें छिपाकर रक्षा की थी, उसमें भी बहुग्रथराशि हमारे विद्याप्रिय पश्चिम विद्वान् (जर्मनी, इग्लैंड, आस्ट्रेलियादिके रहनेवाले) प्रलोभन वा डरसे परतन्त्र जैन सम एवं च कर्तव्यपथसे विचलित भारतवर्षसे लेगये। इसमें भी वृहदवशिष्टभाग भट्टारक अन्य भँडारोंमें दीमक, अन्य कीटोंका आहार हो रहा है। अत जो कुछ भी काव्यशा समुपस्थित है, उन जैन काव्यग्रन्थोंका महत्व भव्य पाठकोंकी ही भेंट करता हू।

'जैन काव्यका महत्त्व' इस शब्दके उच्चारण करनेसे सहृदयके हृदय जो भाव प्रादुर्भाव होता है, वही 'जैन काव्यका महत्त्व' इसका विग्रहलभ्यार्थ है इसमें शब्द हैं जैन-काव्य-महत्त्व।

यहा जैनशब्द सबकी वाचक होनेपर भी इसका अर्थ सुलभ होनेसे इस व्याख्यानको लक्षित न करके "काव्य" शब्दका लक्षण लिखनेको प्रारंभ करते हैं। किस भी चीजका लक्षण या स्वरूपमें जबतक सम्पूर्ण उद्बोध नहीं होता है, तब तक सहृद योंके हृदयाकाशमें उस पदार्थकी सुनिर्मल ज्योति ठीक ठीक नहीं चमकती है। अब उ काव्यका लक्षण "काव्यप्रकाश" ग्रथके रचयिताने इस प्रकार किया है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" (काव्यप्रकाश)

अर्थात् गुणसहित दोषरहित शब्दार्थको काव्य कहते हैं। वह शब्दार्थ सर्वत्र सालंकार हो। कहीं २ अस्फुट अलंकार होनेपर भी काव्य कहा जासकता है।

पंडित जगन्नाथने "रसगंगाधर" नामक ग्रंथमें इस प्रकार कहा है—

" रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्य " (रसगंगाधर)

इसका अर्थ प्राय स्पष्ट ही है।

और "साहित्यदर्पण" नामक ग्रंथके कर्ताने काव्यका लक्षण इस प्रकार किया है—

"वाक्य रसात्मक काव्य" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् रसात्मक वाक्यको काव्य कहते हैं। लेकिन जब हम उपर्युक्त लक्ष्यके ऊपर दृष्टि वृष्टि करते हैं, तो हमको यह सब लक्षणोंकी विलक्षण सृष्टि सूजती है। क्योंकि काव्यका प्रयोजन इस प्रकार कहा है—

" काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ "

अर्थात् जिसमें कीर्ति हो, अर्थप्राप्ति हो, लोक व्यवहार ज्ञान हो और अमंगलका विनाश हो, झटिति (जल्दी) विलक्षण सुख हो, कान्ता सम्मिततासे उपदेश मिले, यही काव्यका प्रयोजन है।

इस प्रयोजनकी सिद्धिका जो कारण है उसका लक्षण दोष रहित गुण सहित अलंकारविशिष्ट शब्दार्थ इतने ही कहनेसे पर्याप्त नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसा कतिपय वाक्य यदि केवल शृंगाररसात्मक लिखा जायगा तो उपर्युक्त प्रयोजनमें " शिवेतरक्षतये " अर्थात् अमंगलविनाशके लिये क्या हो सकता है? या उससे कोई सच्चा उपदेश मिल सकता है? इसलिये काव्य प्रकाशकारका उक्त प्रयोजनको लिखते हुये इस तरह लक्षण बनाना, अयुक्त मालूम पड़ता है। ऐसे ही साहित्यदर्पणके रचयिता श्रीयुत विश्वनाथ महापात्र रसात्मक वाक्यको काव्य कहते हुए ठीक नहीं जचते। उसमें भी हम यही कह सकते हैं कि कोई शृंगारादिक रसात्मक वाक्यसे ही उक्त प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अत यह ठीक नहीं है। इसी तरह " रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्य " कहते हुए रस गंगाधरकार भी हमारे मान्य नहीं हो सकते हैं। क्योंकि पूर्वोक्त दोष भी उनका पीछा नहीं छोड़ता। और भी अनेक आलंकारिकोंने काव्योंके लक्षण बनाये हैं, किंतु हम उनका खंडन मंडन कर लेखको विस्तृत करना नहीं चाहते। किंतु पूर्वोक्त काव्य लक्षणोंमें दोषानुसंधान करते हुये काव्यसे उक्त प्रयोजनकी सिद्धि जिस काव्यसे हो उसका अनुसंधान

करते हुए जनालंकारिक काव्यका लक्षण अलंकारचिंतामणिके अनुसार कहते हैं।—

"शब्दार्थालंकृतोद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं।
व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यं॥
लोकद्वन्द्वोपकारी स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थी।
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम्॥

(अलंकारचिंतामणि)

यह जैन कवि श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्यका कहा हुआ निर्दोष एवं च मान्य काव्यका लक्षण है। इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

"शब्दालंकार, अर्थालंकारसे दीप्त, नवरस सहित, रीति और भावसे सुन्दर व्यंग्यादि अर्थवाला, दोषरहित गुणसहित नेताकी सद्वर्णनासे पूर्ण, इह तथा परलोकका उपकारी, पुण्यधर्मका बड़ा भारी कारण, ऐसे काव्यको नानाशास्त्रप्रवीण, अनुपम बुद्धिवाला कवि करे।

इस काव्यलक्षणसे लक्षित काव्य ही वास्तविक काव्य कहा जा सकता है। इस तरहके काव्यसे उपर्युक्त प्रयोजन अथवा अन्यनोक्त—

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च, साधुकाव्यनिषेवणं॥" (साहित्यदर्पण)

इस प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है।

अतः अब विचार करना चाहिये कि भारतीय काव्य भंडारोंमें ऐसे कितने काव्य रत्न हैं जो कि उक्त पूर्व लक्षण लक्षित हों। इसका विचार करनेके लिये सबसे पहिले "लोकद्वन्द्वोपकारी पुण्यधर्मोरुहेतुम्" इन दोनों विशेषणोंको हम उपस्थित करते हैं। जो पुण्यधर्मोरुहेतु है। वास्तवमें वही काव्यचिंतामणि उभयलोकका हितकारी होकर मनवांछित फलप्रद है।

अब हमको यह विचार करना चाहिये कि पुण्य और धर्मकी शिक्षा जिनसे मिल सकती है ऐसे काव्य कितने हैं। सर्व प्रथम हम अजैन नैषधादि लोकप्रसिद्ध सरस काव्यों-पर ही दृष्टिपात करते हैं, तो उसमें एक पुरुषका स्त्रीके साथ किस तरहका प्रेम होता है और उसका कैसे निर्वाह होता है इत्यादि विषयोंको छोडकर धर्मादि शिक्षाकी प्राप्ति नहीं हो सकती और जो जो प्रसिद्ध प्रसिद्ध काव्य है उनमें माघ किरातादि तथा रघुवंश कुमारसम्भवादि हैं। उन्होंमें कोई तो शृंगाररस ही से लबालब भरे हुए हैं। कोई वीररस प्रधान तथा च कोई वंशवर्णनात्मक हैं। उसीको पुष्ट करते हुये प्रथान्त हुये हैं। उन्होंमें आदिसे अन्ततक अवलोकन करने पर भी धर्मोपदेशकी गन्ध भी नहीं मिलती। पूर्वोक्त प्रयोजनेच्छु हम जैनकाव्यमार्गमें पदार्पण करते ही उक्त प्रयोजनको पद पद पर

दृष्टिगोचर करते हैं। क्योंकि जैन काव्योंमें ऐसा कोई भी काव्य नहीं है, जिसमें धर्मोपदेशके साथ साथ समग्र लौकिक व्यवहार दिखाते हुये अन्तमें मोक्ष प्राप्तिके लिये केवलीभगवान्के मुख निर्गत वचनावली सरस श्लोकोंसे सज्जित नहीं की गई हो। इस बातकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये हम उन्हीं सहृदयोंसे प्रार्थना करते हैं जिन्होंने उभय काव्य (जैन, जैनेतर) रसका आस्वादन गवेषणा पूर्वक किया हो। यही जैन काव्यका सर्व प्रथम सुख और शांतिको प्रदान करनेवाला महत्त्व है। इस सर्व प्रथम महत्त्वका हम लोगोंको कम मूल्य नहीं समझना चाहिये।

एक बार एक पंडितराजने ऐसा कहा था कि "धर्मप्रधान काशीनगरीमें अध्ययन करनेवाले काव्यरसिकवृन्दोंमें बहुतसे रसिक वेश्यागमनादि दुश्चरित्रोंको सेवन करते हैं। इसका खास कारण यही है कि उन काव्योंमें शृंगाररसकी प्रधानताके साथ २ योग्य शिक्षा, धर्मोपदेशका नितान्त अभाव है।"

वह काव्य अनेक प्रकारका होता है, किन्तु दृश्य, श्रव्यके भेदसे दो प्रकारका है। दृश्य नाटक प्रकरणादिको कहते हैं। और श्रव्य काव्यके भेद बहुतसे हैं। यथा—महाकाव्य, खंडकाव्य, चम्पू-गद्यकाव्य, आख्यायिका इत्यादि हैं। इन्होंमें व्यासंकर काव्य शब्दका उच्चारण करनेपर लौकिक प्रतीति महाकाव्यकी होती है। इसी महाकाव्यमें जैनाचार्यसे कहा हुआ पूर्व काव्यका लक्षण याथातथ्येन घटता है। अत नाटक, भाण इत्यादिसे उपर्युक्त काव्यलक्षणोंका प्रयोजन सुष्टुतया, सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव हम प्राधान्येन महाकाव्योंकी ही उत्तमता बतलायेंगे। इससे पहिले काव्यलक्षणमें "नेतृसद्वर्णनाढ्य" यह जो विशेषण है इसका अर्थ नेताका जो सद्वर्णन है अर्थात् जिससे पूर्वोक्त धर्मार्थकाममोक्ष प्रयोजनोंकी सिद्धि हो सकती हो ऐसे वर्णनसे आढ्य=प्रचुर हो।

जिसके ऊपर कवि अपनी शब्दार्थालंकारोंसे विभूषित तथा गुणोंसे सुशोभित सरस्वतीको समाता है वह नेता कैसा होना चाहिये? नेताका लक्षण "साहित्यरत्नाकर" में ऐसा कहा है—

"महाकुलीनत्वमुदारता च तथा महाभाग्य विदग्धभागे।
तेजस्विता धार्मिकतोज्वलत्वममीगुणा जाग्रति नायकस्य॥"

अर्थात् महाकाव्यका नायक वही होसकता है जो महाकुलीन और बड़ा भारी उदार और महाभाग्यशाली, अतिशय विदग्ध और महा तेजस्वी, धार्मिक हो। संसारमें उपर्युक्त गुणविशिष्ट महाकाव्यके नायकको अनुसंधान करते हैं तो हमको अष्टादश दोष रहित, अनंत चतुष्टययुक्त तीर्थंकरोंको छोड़कर मानव जातिमें कोई भी दृष्टिगोचर नहीं होते। अत द्वितीय सर्वोत्तम जैन काव्योंमें उत्तमता यही है कि प्राय: सम्पूर्ण महाका-

क्योंकि नायक तीर्थंकर या तद्भवमोक्षगामी ही हैं। उन तीर्थंकरोंको छोडकर संसारमें ऐसा कौन माताका लाल है जो उनसे गुणशाली प्रमाणसे प्रसिद्ध हुआ हो। उनके सद्वर्णनोंसे आढ्य जैन महाकाव्यपुन ही है। यथा महाकाव्य धर्मशर्माभ्युदय, महाकाव्य चन्द्रप्रभचरित, महाकाव्य पार्श्वनाथचरित,-नेमिनिर्वाण इत्यादि।

अब हम यह दिखाते हैं कि महाकाव्यमें वर्णनीय विषयोंका सन्निवेश किस पाडित्यके साथ जैन कवियोंने किया है उसका भी थोडा नमूना सहृदयकाव्यरसास्वाद-निपुण पाठक महोदयोंकी सेवामें उपस्थित करते हैं। महाकाव्यमें १८ वर्णनीय विषय हैं। जैसा ही अलंकारचिंतामणिमें कहा है—

भूभृत्पत्नी पुरोधा कुलवरतनुजाऽमात्यसेनेशदेश- ।
ग्रामश्रीपत्तनाब्जाकरशरीघनदोद्यानशैलाटवीक्षाः ॥
मन्त्री दूत प्रयाण स्मृगपतुरगेभर्तिन्द्वाश्रमाजि- ।
श्री वीवाहावियोगास्सुरतवरसुरा पुष्पवार्नर्ममेदा " ॥

(अलकारचिंतामणी)

ये १८ वर्णनीयका यथा स्थानमें निवेश जैन महाकाव्योंमें जिस ढगसे किया गया है, उसे जैन महाकाव्योंके अध्ययन करनेवाले समझसकते हैं।

यहांपर प्रत्येक वर्णनीयका उद्धृत करनेसे यह लेख महत् ग्रथाकार स्वरूपमें परिणत होजायगा अत चुनेहुए विषयोंका नमूना दिखाकर आगे बढेंगे। भूभृत् राजाका वर्णन हरएक जैनमहाकाव्योंमें भिन्न भिन्न रीति तथा भिन्न भिन्नालंकारोंसे सभीकर भिन्नर कवियोंने वर्णन किया है। उसमेंसे पाठकोंके मनोरंजनके लिये महाकाव्य धर्मशर्माभ्युदयमें हरिश्चन्द्रकविके पद्य दिखाते हैं।

गतेऽपि दृग्गोचरमग्र शात्रव स्त्रियोऽपि कदर्पवत्रपा दधुः ।
किमद्भुत तद्धतपञ्चसायक यदङ्गवन्सगरसगताः क्षणात् ॥

(म० धर्मशर्माभ्युदय)

इस पद्यमें राजाका वर्णन वीररसके साथ२ सौंदर्यका वर्णन श्लेषभंगीसे जिस प्रकार किया है सो सुहृदय समझसकते हैं। तथा च

न मन्त्रिपार्श्वत्रपोऽपि रक्षितु क्षमाः स्वमेतद्भुजगायसे॰ क्वचित् ।
इतीव भीत्या शिरसि द्विषो दधुस्तयाङ्घ्रिचञ्चन्नखरत्नमण्डलम् ॥

(धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें श्लिष्ट रूपक मूल उत्प्रेक्षाका निवेश किस चातुर्यके साथ किया है, उसे चतुरशीरोमणि समझ सकते हैं।

तथा च–"तदीय निस्त्रिंशलसत्रिधतुदे बलादुगिलत्युधतराजमडलम् ।
निमज्ज्य धारासलिले स्वमुचकैर्दुदर्दिजेभ्य प्रविभज्य विद्रपः ॥
(धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोक श्लिष्टपरम्परितरूपकका निवेश करते हुये कवि उस मार्गपर चले हैं कि शायद ही कोई कवि उस मार्गमें पहुचा होगा। इस तरह नायक (राजा)का वर्णन कहाँ तक बताया जाय। एकसे एक सुन्दरसे सुन्दर पद्यरत्न जैनमहाकाव्यसमुद्रमें इस विषय पर उपस्थित हैं।

द्वितीय राजपत्नीका वर्णन महाकाव्यमें कहा गया है। इस वर्णनमें उसी धर्मशर्माभ्युदयमें कविने कैसा प्रतिभापाटव दिखलाया है। विनोदके लिये उसका भी २ या ३ पद्य उद्धृत करेंगे। –

" प्रयाणलीलाजितराजहंसक विशुद्धपार्ष्णि विजिगीषुवस्थित ।
तदंघ्रिमालोक्य न कोपदण्डभाग्भियेव पद्म जलदुर्गमत्यजत ॥
(धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें एक विजगीषु नरेशके साथ राजपत्नीके पादका साम्य श्लेष्योपमालंकारसे कैसा दिखाया है।

चक्षुका वर्णन करनेमें अनुपम श्लोक सहृदय महोदयोंकी सेवामें पेश करते हैं –

जितास्मदुत्त समहोत्पलैर्युवा क याथ इत्यध्वनिरोधिनोरिव ।
उपात्तकोपे इव कर्णयोः सदा तदीक्षणे जग्मतुरन्तशोणताम् ॥
(धर्मशर्माभ्युदय)

इसकी उत्प्रेक्षा कैसा ही अनोखी है।

तथा देश वर्णनमें चन्द्रोपल (चन्द्रमणि) के प्रासाद पंक्तिके साथ एक इत्थंरीतिसे परवर्णनीयका साम्य देखिये।

व्यापार्य सज्जालकसन्निवेशे करानभिप्रेङ्खति यत्र राज्ञि ।
द्रवत्यनीचैस्तनुकूटरम्या कान्तेव चन्द्रोपलहर्म्यपङ्क्तिः ॥"
(धर्मशर्माभ्युदय)

इसी प्रकार ग्रामवर्णनमें स्वर्गसे व्यतिरेकको दिखाते हुये एक पद्य किस रीतिसे लिखा गया है। इसकी उत्तमता हमारे भव्य सभ्य पाठकवृन्द ही विचारें।

" अनेक पद्माप्सरसः समन्ताद्यस्मिन्नसंख्यातहिरण्यगर्भाः ।
अनतपीतास्वरधामरम्या ग्रामा जयन्ति त्रिदिवप्रदेशान् " ॥
(धर्मशर्माभ्युदय)

यद्यपि शैलके वर्णनके उदाहरणमें बहुतसे जैन महाकाव्य उपस्थित हैं, हम इसके उदाहरण स्वरूप महाकवि श्री हरिश्चन्द्रका धर्मशर्माभ्युदयका दसवां सर्ग सम्पूर्ण देना चाहते हैं क्योंकि कविने ऐसी उत्तमताके साथ शैल वर्णन किया है कि शायद ही किसी कविने ऐसा वर्णन अपने काव्यमें किया हो लेकिन लेख वृहद् न होनेकी चिंता हमको रोकती है, फिर हम इसका उदाहरण अवश्य देंगे।

" पद्मांम्बुजेषु भ्रमरावलीनामेणावली सत्तमरावलीना।
पपौ सरस्याशु नरं गतान्तं न वारि विस्फारितरङ्गतान्तरम्॥ "

(महा धर्मशर्माभ्युदय)

इस पद्यमें यमकालंकारके साथ २ स्वभावोक्तिका कैसा मणिकाचन योग हुआ है यह देखकर चित्त गद्‌गद होता है। तथा च—

" दूरेण दावानलशङ्कया मृगास्त्यजन्ति शोणोपलसंचयद्युतीः।
इतोच्छलच्छोणितनिर्झराशया लिहन्ति च प्रीतिजुषः क्षणं शिवाः॥ "

(धर्मशर्माभ्युदय)

पर्वत तपस्या करनेका प्रधान स्थान है। इस बातको दिखानेके लिये मोक्षनगरका अत्यंत दुर्गमार्गमें जिनेन्द्ररूपी सार्थवाहको प्राप्त करें अगाड़ी पैर रखनेके लिये यह पर्वत प्रथम स्थान है। यह रूपक शांतरसको पिन्न्ता हुआ कैसा आल्हादकारी है।

ऋतु वर्णनका भी जैन महा काव्योंमें सर्वत्र वर्णन किया गया है। उसमें भी हरिश्चन्द्र कविका चारुरीतियुक्त वर्णनके श्लोक प्रियपाठकोंकी भेंट अवश्य करेंगे।

" कतिपयैर्दशनैरिव कोरकैः कुरबकप्रभवैर्विहसन्मुखः।
शिशुरिव स्खलितस्खलितं मधुः पदमदादमदालिनि कानने॥ "

इस श्लोकमें वसंतका आगमन हास्य करते हुए शिशुके साथ उपमा देते हुए क्या ही अच्छा वर्णन किया है।

इसी तरह इसी ग्रन्थ धर्मशर्माभ्युदयमें ग्रीष्मवर्णनमें कुत्तोंकी जीभ निकलनेमें कविराजने क्या ही अनूठी उत्प्रेक्षा की है।

"इह शुना रसना वदनाद्बहिर्निरगमन्नवपल्लवचञ्चला।
हृदि स्मराशुक्षरमकरार्पिताः किमव शानुकृशानुशिखाः शुचौ॥

(महा धर्मशर्माभ्युदय)

तथा वर्षावर्णनमें भी इसी कविका उत्तम श्लोक उद्धृत करते हैं।

" भुवनतापकमर्कमिवेक्षितु कलितकान्तचलश्रुतिदीपिका ।
दिशि दिशि प्रसमार कुर्वतां सह मुदारमुदारघनावलिः " ॥

(महा धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें आकाशमें घनपंक्तिका विचरण और विजुलीका चमकना इस पर कवि उत्प्रेक्षा करते हैं। संसारको ताप देनेवाला सूर्य कहां चला गया यह देखनेके लिये मानों हाथमें दीपक लेकर यह घनावली कृषकोंके आनन्दके साथ साथ दिशाओंमें फैल रही है।

शरदकालके वर्णनमें भी इस कविका बुद्धिपाटव देखिये—

" हृदयहारिहरिन्मणिकण्ठकाकलितशोणमणीव नभः श्रियः ॥
ततिरुदैक्षि जनैः शुकपङ्क्तिना भ्रमवतामवतारितकौतुका " ॥

(महा धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें शरदकालमें शुकावलीका वर्णन नभश्रीके गलेमें पद्मरागमणि जटित इन्द्रनीलमणियोंका हारमाल्य देतेहुए क्या ही अच्छा पद्य गाया है।

तथा इसी कविका शिशिर वर्णनमें अनुपम श्लोक लीजिये—

" स महिमोदयत' शिशिरो व्यधादपहृतप्रसरत्कमलाः प्रजाः ।
इति कृपालुरिवाश्रितदक्षिणो दिनकरो न करोपचयं दधौ " ॥

(महा धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें शिशिर वर्णनके साथ प्रजापीडक नरेश अर्थात् प्रजाओंका रक्त चूसने पर दूसरा त्यागी कैसा स्वार्थ त्याग करता है इस बातको शिशिरकाल और सूर्यके छलसे कमला और दक्षिण कर शब्दको श्लिष्ट बनाते हुए कैसा विलक्षण विनिवेश किया है।

पुष्पावचयके वर्णनमें एक शास्त्राभ्यासी सच्चरित्र असत्संसर्गसे अपने चरित्रसे च्युत होने पर दूसरा दर्शक कैसा आश्चर्यसे विस्मय हो जाता है इस बातको श्लेषभंगीसे वृक्ष और वन, फलमें कैसा घटाया है।

" प्रमत्तकान्ताकरसंगमादमी सदागमाभ्यासरसोज्ज्वला अपि ।
क्षणाद्विपेतुः सुमनोगणा यतो ह्रियेव विच्छायमभूत्ततो वनम् ॥ "

इसी तरह महाकाव्यका अष्टादश वर्णनीय हम कहां तक लिखें? जिस तरहसे हमने श्रीयुत कविराज हरिश्चन्द्रजीके कुछ पद्य दृष्टान्त रूपमें आपके सम्मुख पेश किये हैं उसी तरह यदि महाकाव्य चन्द्रप्रभचरित, पार्श्वाभ्युदय, यशस्तिलकचम्पू आदिका एक एक अत्युत्कृष्ट पद्य उद्धृत करें तो एक बड़ा भारी अद्वितीय ग्रंथ हो जायगा जो कि कविगणोंके लिये आश्चर्यवर्धक एवं च नया ढंगका शिक्षक होगा। लेख बढनेकी बीभत्सता भयसे हम इस विषयको यहींपर छोडकर आगे बढेंगे। और अन्य अन्य विषयोंपर दृष्टिपात करते हैं।

वास्तवमें कोई निरपेक्ष सज्जन सुहृदयवर काव्यपरीक्षक जिस समय निरपेक्ष चक्षुओंको लगाकर यदि काव्योंकी उत्तमताका विचार करेगा तो हम इस बातको दावेके साथ कह सकते हैं कि जैन काव्योंकी ही सब प्रथम उत्तमता उसे ज्ञात होगी क्योंकि जैन काव्य समुदाय, शब्दालंकार, अर्थालंकारोंके गुणोंसे विभूषित एवं च नवरस सहित, सुरीति भावोंसे मनोहर, पद पदके व्यंग्यादि अर्थसे आश्चर्यको करनेवाला, गुणोंकी पंक्ति वद्धमालासे घिरा हुआ एक अद्वितीयताको लिये हुए है। वास्तवमें जिस समय मेघमालासे आच्छादित सूर्य रूपी जैन काव्यसमुदायकी एक किरण त्रैमासिक पत्र "जैनसिद्धांतभास्कर" में प्रकाशित हुई उसी समयसे ही जैनकाव्यकी उत्तमता सिद्ध हो चुकी थी। हम भी अपने पाठकवृन्दोंके लिये इस किरणको देकर समस्त हृदयकमलोंको प्रकाशित किये देते हैं –

"ताता ताती ततैता ततति ततो तता ताति ताती ततत्ता।
तात्ताताता तताती ततति ततितता ततत्तो तितति॥
तातातीत' तिताती ततुतु ततितता ततिता तृति तत्ते।
ताते तितो तुतात्ता ततुतति तुत्तलिता तत्तु तोत्त॥

यह श्लोक त्रैमासिकपत्र "जैनसिद्धांत भास्कर" में प्रकाशित हुआ था, और उसका अर्थ लगानेके लिये २५०) पारितोषिक मिलनेके लिये भी सूचना थी। अर्वाचीन दुनियाके समस्त संस्कृतके विद्वानोंमेंसे किसीने भी इसका अर्थ न लगा पाया। अवधिके पूर्ण होनेपर पत्रके सुयोग्य सम्पादक एव च देशकी वेदीपर त्यागधर्मको करनेवाले देश भक्त पदमराजजी रानीवालोंने इसके लिये द्विगुणित पारितोषिक बढाया पर भी आजतक किसी भी माईके लालने इस श्लोकका अर्थ न लगा पाया।

काशीमें अब तक काव्य विषयके उत्तम२ विद्वान् उपस्थित हैं जिन्होंने कि काव्य पढनेमें ही अपने जीवनको बिताया है। एक विद्वान् जिसने कि काव्यके बड़े२ ग्रंथ अध्ययन किये थे, तथा उनको ९८ सर्ग कंठस्थ थे, बोले कि यह श्लोक अशुद्ध है क्योंकि मैंने तमाम शब्दकोषोंके आधार पर इस श्लोकको १ माहतक लगाया है, किन्तु यह लगता नहीं है। इसपर एक सज्जनवृन्दने कहा कि "प्राचीन ग्रंथोंके समुद्रस्वरूप जैनसिद्धांतभवन" आरामें जाकर इस श्लोकके अर्थको पढ़कर हे काशी नगरीके प्रधान शब्दपंडित! आप अपनी पंडितमान्यताको त्यागकर जैन काव्योंका एक तरफमें ध्यान पूर्वक देखना प्रारम्भ कर दीजिये, आपको मंजिल मंजिलपर शब्दार्थालंकारोंकी कुटियोंमें नवरस रससे भरे हुए ऐसे गुणगणमय फल मिलेंगे जिनके कि आप स्वादको लेकर अपने जीवनको धन्य तथा च कृतकृत्य मानेंगे।"

पाठक महाशय ! इस श्लोकका अर्थ जैनसिद्धांतभवनमें उपस्थित है। एक समय जिनेंद्रभूषण भट्टारक श्री तीर्थराज सम्मेदशिखरजीकी वंदनार्थ काशी होते हुए पालकी द्वारा जाते थे। जैनेतर वैष्णव विद्वानोंको यह सह्य न होकर उन्होंने पालकी रोकी और कहा कि जब तक आप शास्त्रार्थमें हम लोगोंको नहीं हरादेंगे तब तक हम आपको पालकी द्वारा नहीं जाने देंगे। क्षमाधार नम्र भट्टारक जिनेंद्रभूषणके हृदयमें श्री तीर्थराजकी वन्दनाके लिये बहुत व्याकुलता तथा च जल्दी थी। अतः उन्होंने काशीके विद्वत्समाजसे यह कहा कि "**आप जबतक इस श्लोकका अर्थ लगावें तबतक मैं वन्दना करके वापिस आता हूँ और शास्त्रार्थ करूँगा**" पश्चात् श्री १००८ भट्टारकजी श्री तीर्थराजकी वन्दनाकर वापिस आये। तब मालूम हुआ कि किसी भी पण्डितराजसे यह श्लोक नहीं लगता। इतनेमें एक नैयायिक महाशयने कहा कि हम शब्दोंके वितण्डावादको त्यागकर आप अपनी प्रतिज्ञानुसार हमसे शास्त्रार्थ कीजिये। तब शास्त्रार्थ हुआ और "**सत्यमेव जयति नानृतं**" इस नीतिके अनुसार जैनियोंकी विजय तथा विपक्षियोंकी पराजय हुई।

प्रियपाठकवृंद ! काव्य शब्दका अर्थ केवल महाकाव्य ही नहीं है किन्तु वन्दनीय आलंकारों और इतरालंकारिकोंकी अपेक्षा दृश्य श्रव्य इस तरह दो प्रकारका है—

प्रथम काव्यभाग दृश्यको बतलाते हैं। नाटक सट्टक भाँड प्रकरण इत्यादिको दृश्य काव्य कहा है। प्रियपाठकवृन्द ! नाटकादिकी उत्तमता तभी ज्ञात होती है जब कि वह रंगमंच पर खेला जाकर भव्य नाट्यदर्शकोंको अपनी उत्तमताका प्रदर्शक हो, क्योंकि नाटककी उत्तमता रंगमंच पर ही खेले जाने पर प्रगट होती है। फिर भी हम इस बातको अभिमानके साथ प्रियपाठकोंकी हृदयस्थलीमें बैठाते हैं कि जो जैन नाटकवृन्द विक्रांतकौरवादि हैं वह जैनेतर शकुंतलादि नाटकोंसे विशेषोत्तम हैं। मेरे ख्यालसे अज्ञानवश्यामें सोती हुई जैन समाजके पर्यकके नीचे स्थित, तथा थोड़े कालसे प्रोद्भूत जैन नाटकवृंद अभी तक निर्पक्ष पश्चिमीय सज्जन विद्वत्परिषद्के पास नहीं पहुँचा। नहीं तो अवश्य ही ये निर्पक्ष समालोचना कर इस जैन नाटकवृंदको उच्चस्थान देते। जिस समय हम विक्रांतकौरवादि जैन नाटकोंकी पंचसंधि, पताकास्थान, प्रवेशक, विष्कंभकादिका निवेशचातुर्य, पदमनोहारितापर दृष्टिपात करते हैं तो हस्तिमल्ल कविके नाटकों परसे दृष्टि उठना नहीं चाहती। तब कालिदासका "शकुन्तला" नाटक बिल्कुल फीका हो जाता है।

हमारे पाठकवृन्द इस बातसे परिचित ही होंगे कि जैन नाटक रचयिता कविवराचार्य श्री हस्तिमल्लके दृश्यकाव्य लोककी तरीके प्राचीन विद्वानोंने बहुत

श्लोकबद्ध शब्दोंसे की है। वास्तवमें हस्तिमल्लिके बिना तर्कोंवैराग्यकी नाट्यकलामें नैपुण्यको देखकर हृदय उनकी तरफ भक्तियुक्त हो जाता है।

प्रियपाठकवृन्द! अब हम इस दृश्यभाग नाटकादिकी उत्तमताको सिद्धकर सिद्ध साध्यताको न बताकर आगे श्रव्यके उपर आप लोगोंके चित्तको आकर्षित करते हैं।

श्रव्य काव्योंमें द्विसंधानादि जैन महाकाव्योंमें काव्यके अष्टादश वर्णनीयका अनुपम, अद्वितीय निवेश करते हुए काव्य बनानेका अत्युत्कृष्ट उत्तम-फल सुखधाम (शाश्वतिनिकेतन मोक्ष)की प्राप्तिके लिये प्रातःस्मरणीय एवं च जगद्वन्दनीय केवली भगवानके उपदेशको सन्निवेश करते हुए जो अद्वितीय महत्व प्रकटते हुए जगतको बतलाया है इसको कहकर हम यहाँपर पिष्टपेषण नहीं करना चाहते, अतः हम आगे चलते हैं।

प्रियपाठकवृन्द! ज्यों ही हम आगे चलनेको लेखनी चलाते हैं, लेखनी इकाइक रुक होजाती है, क्योंकि लेखनी साचरूप हस्त, अपने मन-नरेशकी आज्ञा (जैन महाकाव्य सागरोंमें ही यशस्तिलकचम्पू 'स्वयम्भूरमण समुद्र' नहीं है बल्कि समस्त सांसारिक काव्योंमें यह स्वयम्भूरमण समुद्र है) के खिलाफ जरा भी नहीं बढ़ना चाहते हैं। अतः मान्यवर पाठकवृन्द इस प्राकृतिक नियमसे यह हम जैन काव्यके अंश "चम्पू" की समालोचना बतलाते हैं। "चम्पू" की समालोचनाके लिये लेखनी उठनेपर "यशस्तिलकचम्पू" का नाम स्मरण आते ही हमारे आनन्दरोमांच खड़े होजाते हैं। क्योंकि हम एक एकसे उत्तम काव्यनिकुंजमें इस समय प्रवेश करते हैं जो कि चम्पूनिकुंजमें ही प्रधान नहीं है बल्कि जगतके काव्य निकुंजमें कोई दूसरा काव्य-निकुंज इसकी सानीका नहीं है। प्रियपाठकवृन्द! यह हमारी अतिशयोक्ति नहीं है। यह बात काव्य रसास्वादी निरपेक्ष विद्वानोंने ही मानी है। इस प्रधान काव्यका हृद्य गद्यपद्य देखनेसे दूसरा ग्रंथ देखनेकी इच्छा ही नहीं होती। उसीमें ही गद्यकाव्य, पद्यकाव्यका आस्वाद उत्तम बिल्कुल रीतिसे पाया जाता है। इसमें काव्य वर्णनीयका कोई भी वर्णन ऐसा नहीं है, जो अत्यन्त उद्भट रीतिसे वर्णन नहीं किया गया हो। इसकी गद्य इतनी उत्तम है, कि कादम्बरी ललितके साथ साथ बिल्कुल तुच्छ मालम पड़ती है इसकी गद्यको लिखते हुए कविने एक ही मार्गका आश्रय नहीं लिया है, किंतु वर्णनीयके अनुरोधसे कहीं २ समास बहुल गौणीरीतिका सहारा लिया है। माननीय समालोचकवृन्द! "**दृष्टान्तेन स्फुटायते मतिः**" इस आर्षसिद्धांतानुसार एक दृष्टांत देनेपर यह बात बिलकुल स्फुट हो जायगी। मेरे बहुत खोजनेपर "यशस्तिलकचम्पू" में से यह हृद्य गद्य आप लोगोंकी भेट करता हूँ। "**यत्रोद्याने क्रीडासु सुन्दरी जनैनसह कामिनः रमन्ते**" इसवाक्यमें जो उद्यान शब्द है उसका कविने कैसा अभूतपूर्व अद्वितीय मनोहर वर्णन किया है।

यत्र च मधुकरकुटुम्बिनीनिकुरम्बाडम्बरचुम्ब्यमानमकरन्दस्पन्दस्तम्बविलम्बितनितम्
बिनीबिम्बाधरपानपरवशविलासिनि, सुरतसुखोन्मुखमुखरपरिरेङ्खत्सखीसखानेकलग्न
स्वभुजावलम्बितयमानफलितशिखरे समीपशाखिभिः स्खलितमसृणानमरालमुग्धोर्विरवान-
मृगनयने, स्निग्धविलसदचरोपरचितकरवाचलयलाप्यमानमधुमत्तसीमन्तिनीसमालोकनकुतूहल
मिलदनङ्गलतामल्लीमुकुलकुसुमविटपिनि, वटविटपविटङ्कमञ्जुकोटरोपविष्टवाचाटशुकपेटकपठ्य
मानेन विगलितकठोरवाटोपचाटुपाटवेन चीयमानमुनिमनःकपाटपुटभविभवे, विकिरकुलकल
कलविकीर्यमाणकुरबकस्तबकमुकुरमुक्ताफलितवितर्दिकावलिहर्म्याणि, चपलकपिसंपातकुसुमाभ
भिर्निर्भरविभ्रमारम्भमभ्रमाभिर्भामिनीभिः परिरभ्यमाणनिभृतसरसापाङ्गवल्लभे, भुजभुजङ्गपुल
कितनवयौवनकान्तकेनवान्तरायितयुवतिपुष्पावचितिनि, सरलद्रुमस्तम्भसमुत्तसमुत्तम्भनालोकत
निभिनिभिन्नपीनस्तनलिखितपत्रलाञ्छितोरः स्थलरमणस्मरमसोन्मत्तदुत्तालचलनाकुलीभन्दो
लनविस्रस्तनीवीविलासिनीनां मुखरमणिमेखलाजालवाचलितमदकलपञ्चमालापिपञ्जरितविहङ्ग
पिनि, नागकुसुमकुञ्जपुञ्जपरागपातपतङ्गसंदीपितमदनमदहरिद्रितसुन्दरीसम्भोगहृतवते,
चञ्चरीकनिवहोत्तम्भनभारभरितभर्तुभुजाभोगसंभावनविकटकुचकुम्भमण्डलानामितस्ततो
विहरन्तीनां रम्भोरूणामनवरतरणरणायमानमणिमञ्जीरशिञ्जिताकुलितनकुलकेलिदीर्घिका
कलहंसमण्डले, रमणानविरतनवविनोदरसोत्सेकरचितकुचचिकुरमाल्यामोदसुरभितसु
खान्मृगनाभीपत्रीगर्भे, तमालदलनिर्यासरसपूरितकरनिशालयपुटेन यमितनम्रनेत्रनीधारिणा
दयानिचयेन रच्यमानसहचरीकपोलफलकतलतिलकविचित्रपत्रभङ्गिनि, नलरताभियुक्तकुट्टा
मितकम्पनलोतारलतरलोल्लासितनिचय (चु) म्बुकतिलनिलीनोद्धकवालकालोकनाकुलसरोज
मुखोल्लासकपाहृले, घटनकोणिम्लमकाप्रगलितलज्जस्यनिसर्गोदुत्तालवरसुरतसम्भिणा पण्याङ्ग-
नाभाग्य कमलोद्गमन्मोदलोलपितानुल्पनपरसारिकाव्यावसकुलकुलायकरलोपकण्ठनटिता-
निवासागारवितानवितसि माकन्दमञ्जरीमकरन्दबिन्दुस्यन्ददुर्दिनेन मुचकुन्दकुसुमपरिमलोल्ला-
सिना प्रचलाकिकुलकलापसीमन्तोच्चिनेन वानचातकेनाचम्यमानसुरतश्रमसलिलस्वेदवधूपयोधर-
मुकुलितनवघर्ममञ्जरीभागे, त्रिभुवनविधिविधुरकुसुमप्रकाशदलकल्पितदीपमानाननचषक-
चर्वितमुग्धीकृतीवसीधुनि, पुण्डेक्षुकाण्डमण्डपपातिनीभिः पिङ्गपरिपक्वश्रणत्तरगुञ्जपरिवृढि-
चिबुकबन्धानन्दाग्रदिशिलाष्टिमण्डले, गृहीकाकन्दरायतचटुलगामिनीकरवलयमणिमरी
चिभिस्तिलितकिङ्किरातरागिनि, नालिकेरफलप्रसक्तिविलुप्यमानमिथुनमन्मथकलहायमानपथ प
रभृतमण्डले, कन्दुकपिण्डोद्भ्यामविस्तारितविभ्रमेणतरुणाननमनिधानविहङ्गकण्ठद्वारलग्नेन भ्र
मितभ्रमोदमभ्रमाम्पपरिमर्म्भिरम्यमुदगीनकोदण्डताण्डवापाङ्गपातेन निर्जोक्ति समानेन दा-
क्षायणमनागमनापदलितकृतालयानमूनिनि, रजनिरसपि रतिकुचकलशमण्डलाभिमन्दीकृतनिवद
र्पितमलिनित परिवारपेशलन्दनविनतमयमभियमिपूर्व स्त्रीभिरपरामिश्र कूर्मोपधिमापति

लताभिरतिरमणीये, नरखचरामराणां मिथः सम्भोगरसमीप्सित दर्शयति निखिलभुवनवनानां श्रियमिवादाय जातजन्मनि, रोलम्बरागवैश्रवणनीरन्ध्रितकेतकीरज पल्लवितमिलितकपोलदर्पणेनवि विधकुसुमदलविनिर्मितललामकर्मणा कुटजकुड्मलोल्बणमल्लिकानुगतकुन्तलकलापेन लाविच्छगु लुच्छविच्छुरितशतपत्रीसक्कसेनद्धचिकुरभङ्गिना मरुवकोद्भेदविदर्भितदमनकाण्डशिखण्डितकेशपा शेन प्रियाङ्गमञ्जरीकर्णकण्टिकर्णिकारकेसरविराजितसीमन्तसन्ततिना चम्पकक्लृप्तविकचकच (काञ्च)नारविरचितावतंसेन माधवीप्रसूनगर्भगुम्फितपुन्नागमालाभिरामिता। रक्तोत्पलनालान्तरा लम्बमृणालवलया कुन्दकोटेन (?) सौगन्धिकानुबद्धकमलकेयूरपर्यायिणा, सिन्दूरवारसरञ्जु न्दरकदलीमरालमेखलेन शिरीषवंशवाणस्तबकपालिकाम्बारुणा मधुकानुविद्धरञ्जकप्रसूननूपुरभूष णेन अन्यासु च तासु तासु कामदेवकिलिकिञ्चितोचितासु लीलासु नन्दनदेवा सुन्दरी जनेन सह रमन्ते कामिनः ' (यशस्तिलकचम्पू १ आश्वास)

भो काव्यरसिकगण' यह चम्पूकी वनक्रीडाके वर्णनका कुछ थोड़ासा अंश आप लोगोंकी सेवामें भेट है। जिससे कि आपको भलीभांति समझमें आसकता है कि चम्पू अद्वितीय ग्रंथ है। उपरिलिखित ह्यगद्यमें कविने कैसी अनुपम अनुप्रासमाला पहनाई है। काव्य पाठकवृन्दोंको यह तो विदित ही होगा कि उपमा, विरोध, श्लेष, परिसंख्या आदिकी रचना तो प्रत्युत सरल है किन्तु अनुप्रासोंका बनाना उच्चतम भूषण है। कादम्बरी तथा माघकवि के शिशुपालवधमें ऐसी अनुप्रासोंका अद्भुत छटाटोप नहीं पाया जाता। इस उपर्युक्त ह्य गद्यमें पूज्याचार्यने जैसी अनुपम और अद्वितीय अनुप्रासमाला पहिनाई है उसी प्रकार प्रियकाव्यरसिकवृन्दोंके आस्वादके लिये माधुर्यगुण कैसा पद पदमें अद्भुत भरा हुआ है। जहांतक आप काव्यसागरमें गोते लगायेंगे आपको यह बात अच्छी तरहसे ज्ञात हो जायगी कि माधुर्यगुण, उत्तमताले जैन काव्योंमें ही पायाजाता है। शायद मैं इसका कारण जैन काव्योंके रचयिता आचार्यगणोंकी क्षमा, अहिंसा तथा वैराग्य समझता हूं। यह बात बिना दृष्टान्तके शायद आप लोगोंकी समझमें नहीं आवे। अब प्रसिद्ध जैनेतर काव्य "काव्यप्रदीप" के दो श्लोक इस बातके निर्णयके लिये देंगे—

" स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा।
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नाह्निकाह्वाय वः ॥
भिन्द्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥

(काव्यप्रदीप प्रथम उल्लास)

अन्यच्च–

" कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः ॥
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः ।
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पंचाननो वर्तते " ॥

(काव्यप्रदीप ७ वां उल्लास)

इन श्लोकोंमें हम अनुप्रास बहुल कह सकते हैं । लेकिन साथमें रौद्ररस भी पद पदपर टपकता है । किन्तु हमने जो ऊपर " यशस्तिलक " की मनोहर गद्य अनुप्रासमय दी थी उसमें पद पदपर माधुर्य भरा हुआ है । आप इस गद्यके दृष्टांतसे अवश्य ही समझ गये होंगे कि " यशस्तिलकचम्पू " एक, अद्वितीय काव्य है । किन्तु इस काव्यमें कादंबरी, शिशुपालवध, नीलचम्पू, आदिकी तरह शृंगाररस ही नहीं भरा किन्तु यह लोकोपकारि-शिक्षाओंका निकेतन है ।

प्राय पाश्चात्य विशारद भारतीय काव्यरत्नोंकी समालोचनाओंमें सर्व प्रथम यह दोष निकालते हैं कि इनमें स्त्रियोंका सौन्दर्य, स्त्रीपुरुषोंका प्रेम तथा उसका निभाना आदि निरुपयोगी, विषयोंपर ही भारतीयकाव्यरचयिताओंने शब्दार्थालंकारोंसे शोभायमान सरस्वतीको सजाया है, कोई अच्छे २ विषयों पर रचते तो कितना अच्छा उपकार होता " आदि ।

वास्तवमें यूरपीय सज्जनसमालोचक जो इस दोषको प्रधानस्थान देते हैं वह प्राय ठीक ही मालूम पड़ता है, क्योंकि कालिदास कविके ग्रंथोंमें तथा कादम्बरी आदि काव्य-ग्रंथोंमें आदिसे अन्ततक यह ही शृंगाररस पाया जाता है । हम अपने पाठकोंको कालिदासका शृंगाररसकी मदोन्मत्ततामें एक उदाहरण भेट करते हैं–

वागर्थाविव संपृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे, पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

इस श्लोकके अनुसार कवि कालिदासने महादेव पिता, तथा माता पार्वतीको मानकर नमस्कार किया है किन्तु ये ही कवि कालिदासजी अपने "कुमारसंभव" में क्या वर्णन करते हैं–

गम्भीरनाभीह्रदसन्निधाने, रराज नीला नवलोमराजिः
सुरेन्दुर्भीरुस्तनचक्रवाकचञ्चुच्युता शैवलमञ्जरीव ॥

इस श्लोकमें " शृंगाररसोन्मत्त " कवि कालिदास उसी माता पार्वतीकी

करनेमें शर्माते नहीं है यह अत्यंत घृणास्पद है। किंतु हम इस बातको बड़े स्वाभि
साथ कहते हैं कि जैन काव्योंमें शृंगार रसको मार्थ निम्न स्थान ही मिला है। तथा
वीर करुणादि लोकोपयोगी रसोंको प्रधान स्थान मिला है। तथा जैन काव्योंकी
शृंगाररसको प्रधानकर संसारमें व्यभिचारादि अशुभ परिणामोंके निमित्त जैनेतर का
तरह नहीं हुई, बल्कि लोकोपकारी विषयोंको उच्च स्थान ही मिला है। उदाहरणार्थ हम
तिलकचम्पूको ही लेते हैं। इस काव्यमें जो दिनचर्या, ऋतुचर्या आदिका भी वर्णन
है वह अत्यंत उत्कृष्ट है। किसी काव्यग्रंथोंमें तो यह विषय पाया जाता ही
बल्कि किसी भी वैद्यकग्रंथने ऐसी चारु सरल मधुररीतिसे वर्णन नहीं किया हो
पाठकोंके विनोदार्थ हम चम्पूके कुछ श्लोक अवश्य देंगे—

स्थाल्या यथा नावरणानवायामघट्टिताया च न साधुपाकः।
अजागरनिद्रस्य तथा नरेन्द्र! व्यायामहीनस्य च नान्नपाकः ॥

अर्थ—हे राजन्! जैसे बिना ढके हुए मुखवाली तथा नहीं टारी गई ऐसी स्था
(बटलोई) में अच्छा पाक नहीं बनता तथैव बिना निद्राको लिये हुए, तथा बिना व्याय
किये हुए पुरुषको अन्न नहीं पचता।

अभ्यङ्गः श्रमवातहा बलकरः कायस्य दार्ढ्यावहः।
स्यादुद्वर्तनमङ्गकान्तिकरणं मेदः कफालस्यजित् ॥
आयुष्यं हृदयप्रसादि वपुषः कण्डूक्लमच्छेदि च।
स्नानं देव यथार्तुसेवितमिदं शीतैरशीतैर्जलैः ॥ (यशस्तिलकचम्पू

अर्थात्—हे देव! तैलमर्दन श्रम और वातको नाश करनेवाला है, और शिथिलताको
निवारण करनेवाला तथा च शरीरको बलयुक्त करनेवाला है। तथा उबटन शरीरकी
कान्तिको करनेवाला तथा च मेद, कफ, आलस्यका दूर करनेवाला है और हे देव! ऋतुके
अनुकूल सेवन किया गया स्नान गर्म, ठंडे जलसे आयुके लिये हितकर, हृदयको प्रसन्न
करनेवाला, शरीरकी खुजली, ग्लानिको नष्ट करनेवाला है।

धर्मार्थमार्गातपितोऽम्बुसेवी, श्रान्तः कृताशी वमनज्वरार्हः।
भगन्दरी स्यन्दविबन्धकाले गुल्मी जिघत्सुर्विहिताशनश्च ॥

अर्थात्—घामसे पीड़ित ऐसा मनुष्य यदि जलको पीवे तो उसकी मन्ददृष्टि होजाती
है, तथा मार्ग श्रांत अर्थात् मार्गके चलनेसे श्रमको प्राप्त ऐसा मनुष्य यदि भलको सेवन
करे तो वमन, ज्वरको प्राप्त होवे, तथा मलावबाधासे सहित मनुष्य भक्षण करे, तो
भगन्दरी रोग होजाता है, तथा जो मनुष्य त्याग करनेकी इच्छा रखता हुआ भोजनसे
अफरा हुआ भी खावे तो गुल्मी रोग होवे।

(अपूर्ण)

स्नानं विधाय विधिवत्कृतदेवकार्यः ।
संतर्पितातिथिजनः सुमनाः सुवेषः ।
आसेवितो रहसि भोजनकृत्तथा स्यात्
साय यथा भवति मुक्तिकरोऽभिलाषः ॥ (६८०)

अर्थात् स्नानको करके विधिके अनुसार निनदेवोंको वा [illegible] सत्कार, निराकुलचित्त होकर अच्छे वेषको धारणकर अपने [illegible] एकान्तमें यदि भोजनको करे तो सन्ध्याके समयमें उसकी भोजन [illegible] है।

चारायणो निशि तिमिः पुनरस्तकाले
मध्ये दिनस्य धिषणश्चरक प्रभाते ।
भुक्ति जगाद नृपते मम चैष सर्गः
स्तस्याः स एव समयो क्षुधितः यदैव ॥

अर्थात् हे राजन् ! चारायण नामक वैद्यने रात्रिमें [illegible] तथा तिमि नामक वैद्यने सन्ध्याकालमें, धिषण नामक वैद्यने [illegible] नामक वैद्यने सुबहके समयमें भोजन करनेको कहा है। [illegible] मत है कि जिसको जब भूख लगे उसी समय भोजन करे।

अधिगतसुखनिन्द्रः सुप्रसन्नेन्द्रियात्मा ।
सुलघुजठरवृत्तिर्भुक्तपक्ति दधानः ॥
श्रमभरपरिखिन्नः स्नेहसमर्दिताङ्गः ।
सवनगृहमुपेयान्नृपतिर्मज्जनाय ॥

अर्थात्—प्राप्त किया है सुखनींदको जिसने, [illegible] जिसकी, तथा बहुत थोडी है जठरकी वृत्ति (भूख) [illegible] ऐसा और बहुत श्रमसे खिन्न ऐसा नृपति, तैलसे [illegible] गृहको जावे।

आदौ स्वादु स्निग्ध गुरु मध्ये [illegible] ।
रूक्ष द्रव च पश्चात्त च भुक्त्वा [illegible] ॥

भोजनके आदिमें स्वादयुक्त, घृतयुक्त [illegible] युक्त आम्लेके रससे युक्त भोजन करना चाहिये, [illegible] भोजन करके कुछ नहीं खाना चाहिये।

शिशिरसुरभिवर्षेश्वातपान्ते शरत्सु [illegible]
कफपवनहुताशा सचय च प्रकोप ॥

हे राजन् ! शिशिर ऋतु (माघ फाल्गुन) में कफका सञ्चय होता है, सुरभि (वसन्त चैत्र वैशाख) ऋतुमें कफका प्रकोप होता है, और घर्मऋतु (ज्येष्ठ, आषाढ़) में कफ शान्तिको प्राप्त होता है, गर्मीमें वायु सञ्चयको प्राप्त होता है, श्रावणमास, भाद्रोमासमें पवन प्रकोप होता है, शरद ऋतु (आश्विन कार्तिक) में पवन शांतिको प्राप्त होता है शरदऋतुमें पित्त सञ्चय होता है, मार्गशीर्ष पौष मासमें पित्त प्रकोप होता है, माघ फाल्गुन मासमें पित्त शान्त होता है ।

> तदिह शरदि सेव्यं स्वादु तिक्तं कषायं ।
> मधुरलवणमम्लं नीरनीहारकाले ।
> नृपवर ! मधुमासे तीक्ष्णतिक्तं कषाय ।
> प्रशमरसमधान ग्रीष्मकालागमे च ॥

अर्थात हे नृपवर ! इस शरदऋतुमें मिष्टान्न, तिक्त, कषायरसको सेवन करना चाहिये, तथा नीरनीहार ऋतुमें मीठा नुनखरा आम्लके रसको सेवन करना चाहिये । वसन्तकालमें तीक्ष्ण, तिक्त कषायरसको सेवन करना चाहिये, तथा ग्रीष्मऋतुके प्रारम्भ होने पर प्रशमरसान (मिष्टान्न) को सेवन करना चाहिये आदि लोकोपकारी विषयोंका इसमें बहुत ही योग्य रीतिसे वर्णन किया गया है । इस ग्रन्थके अष्टमध्यायमें समस्त आचार निरूपणका वर्णन बड़े विस्तारके साथ तथा साहित्यकी शालियको दिखाते हुए जिस योग्य सुचारुरीतिसे किया है वह कोई दूसरे ग्रन्थमें नहीं मिलता । यह भी इसके अन यदत्य महत्वके योग्य करनेके लिये उदाहरण होगा अतः पाठकोंके मनोविनोदके लिये स्नानवि धिका एक विशेषण दर्शाते हैं ।

" ॐ भक्तिभावविनतोरगनरासुर सुरेश्वरशिर किरीटकोटिकस्पतदरत्नच्छायमानचरणयुग लम्, श्रृंगाराङ्गनाकरविकीर्यमाणमन्दार मेरुपारिजाततताननन्दनप्रसूनस्पन्दमानमकरन्दस्वादो न्मदमिव मत्तालिकुलोन्मोलोपालापितनिखिलपार्श्व पापारिविस्व वरवाद्यमारहेकाराकाङ्क्षितवेणुवल्ल कीवीणवानक मृदङ्ग शङ्ख भल्लरीविहङ्गनादहारीभेरीभम्भा प्रमुदितमधिक शु परततावनद्धवादनाद निनदितनिखिलविष्टिपाधिपोपासनासनम्, अनेकाप्सरविकिरत्कुलकीर्णनि शब्दाशोकानोकहोल्लसत्स प्तस्वरान्पुनरुक्त पवनोदितया स्पन्दमानप्रसरम् अखिलसुरासुरर्षिशांढ्यातपत्रत्रयशिखण्डमण्डन भिन्नपुञ्जोल्लासिस्वभानमनुरागरसेश्वरीपाठतजतिलकपत्रम्, अनवरतपक्षविक्षिप्यमाणोभय पक्षचा मरधाम्यमानपञ्चधरलितविरोचनन्दनप्रासादज्वरितम्, अशेषप्रकाशितपदार्थनिशायीशारीरप्रमाप रिवपुपरिवरिद तमस्तारकतिमिरनिकरम्, अनवधिकस्तुविस्तारात्मसारसारविस्फारित स्सरः पीत अन्तःकरणरिमसततस्त्वपरोक्षाकारम्, इमाम तिपरिवृद्धोपशान्यपानासनावसानटम न रतेश्वरगण इविशिविनस्यादपास्याप्रयोगम्, अन यशाधारसमवसरणसमासीनमनुजदिविजमुन

श्रेन्द्रवृन्दकथ्यमानशाद्वारवि दशुणक्ष ।

" सज्ञाविलक्ष्मीलतिकावनस्य, प्रवर्धनावर्जितवारिपूरैः ।
जिन चतुर्भिः स्नपयामि कुम्भैर्नभः सदो वेनु पयोधराभैः ॥ "

(यशस्तिलकचम्पू ८ वा अश्वासमें)

पाठकवृंद ! इस स्नानविधिके विशेषणसे आप अनुमान कर सकते हैं कि "यशस्तिलकचम्पू" को किस तरहसे अनन्यलभ्य महत्व प्राप्त है ।

यद्यपि यशस्तिलकचम्पूके विषयमें बहुतसे पंडितराओंकी शुभ सम्मतियां हमको उद्धृत करना चाहिये थीं, परन्तु ग्रंथ बढनेके भयसे हम एकका ही सिर्फ उल्लेख करेंगे । काशीके प्रसिद्ध पंडित गुलाबझाकी यह सम्मति है—

"यशस्तिलकचम्पूकी सृष्टि मानवी बुद्धि द्वारा नहीं हुई बल्कि किसी अनुपम दैवीय बुद्धिसे हुई है । इत्यादि "

प्रियपाठकवृन्द ! अब हम आपको इस "यशस्तिलकचम्पू"की उत्तमताका सिंहावलोकन कर "जीवन्धरचम्पू" के लिये कुछ कहेंगे ।

वास्तवमें इस "चम्पू" ग्रंथके वैसे तो सबही गद्य और पद्य उल्लेखनीय हैं तथापि भव्य पाठकोंके सन्मुख कुछ इसकी भी उत्तमताके दृष्टांत स्वरूप श्लोक भेंट देंगे किन्तु इसके पहिले हम इस काव्यके नेता "जीवन्धरस्वामी"के चरितके बारेमें कहेंगे । वास्तवमें इनके चरित्रोंपर "गद्यचिंतामणि, जीवन्धर चम्पू, क्षत्रचूडामणि, जीवन्धर चरित्र, जीवन्धर पुराणादि काव्य रचे हैं । वास्तवमें इनकी जीवनीका वृत्तांत विशेष कौतूहलवर्द्धक, पतनसे उन्नत बनानेको आदर्शनेता चरित्रके लिये सर्वोत्तम है । इस ही कारणसे इनकी जीवनीके वृत्तांतसे सज्जित अनेक काव्यरत्न हैं अब हम जीवंधरचम्पूकी बानगी देते हैं—

वक्त्रं चन्द्रप्रभं पङ्कजयुगमजितं यस्य गात्रं सुपार्श्वं
कृत्यं स्वाधीनधर्म्यं हृदि पुरुचरितं शीतलं सुव्रताढ्यं ।
राज्यं श्रीवर्धमानं कुलममितिविमलं कीर्तिवृन्दं त्वनन्तं
सोऽयं प्रत्यक्षतीर्थेश इव विजयते विश्वविद्याविनोदः ॥

अर्थात् चन्द्रप्रभ, सुपार्श्वनाथ, शीतलनाथ, सुव्रतनाथादि तीर्थंकरोंकी तरह विजयको प्राप्त होता है । नामके एक देश कथनसे सम्पूर्णका ज्ञान हो जाता है ।

और भी हम इस चम्पूकी विशेषताका दृष्टांत देंगे । अक्सर देखा जाता है कि कालिदास आदि कवि अपने अपने काव्योंमें शृंगाररसकी महत्ता दिखानेके लिये स्त्री, पुरुषके हावभावोंको बड़ी निर्लज्जताके साथ दिखाते हैं किन्तु महाकवि हरिश्चन्द्रजी कैसी अनुपम रीतिसे जरा चम्पूमें बताते हैं । भावुक गुणमाला क्रीडाशुकके द्वारा किस तरह अपने

प्रेमी जीवंधरको पत्र लिखती है। तथा विरहाग्नि दुःखसे दुःखित स्वामी जीवंधर उसका नया उत्तर देते हैं–

मदीयहृदयाभिध मदनकाण्डकाण्डोद्यत
नव कुसुमकन्दुकं वनतटे त्वया चोरित।
विमोहकलितोत्पल रुचिररागसत्पल्लव
तदद्य हि वितीर्यतां विजितकामरूपोज्ज्वल' ॥ जी० च० ७

तथा स्वामीजी उसके उत्तरमें पत्रद्वारा यह भेजते हैं,

" मम नयनमराली प्राप्य ते वक्रपद्मं
तदनु च कुचकोशप्रान्तमागत्य हृष्टा।
विहरति रसपूर्णे नाभिकासारमध्ये
यदि भवति वितीर्णा सा त्वया न ददामि ॥ जी० च० ७ ६०

काव्यरसिकमहाशय! जरा निरपेक्ष दृष्टिसे पक्षपातसे एकदम न उकताकर कहिये। प्रेमी प्रेमिकाओंके ऐसे सुन्दर पत्र क्या, और किसी कविने अपने नेता उसकी प्रेमिणीके साथ करवाये हैं, इसका सौभाग्य जी० च० के रचयिता श्रीयुत महाकवि हरिश्चन्द्रजीको ही प्राप्त हुआ है।

पाठकों! "जीवन्धरचम्पू" उत्तमतामें प्राय सम्पूर्ण उल्लेखनीय है। अतः और हमको उल्लेख करना चाहिये था किन्तु ममलतक पहुचनेमें मार्ग अभी विशेष तय करना है, अतः हम चम्पूको छोड़कर श्रव्यकाव्यके प्रधान भेद "महाकाव्य" में उत्तमता दिखाते हैं।

पाठकवृन्द! जिस तरह वैष्णव महाकाव्यपुञ्ज आजकल आप लोगोंकी निगाहमें आते हैं उसी तरहसे जैनमहाकाव्य पुञ्ज भी उससे किसी हालतमें भी कम नहीं है। यद्यपि मैंने लेखके पूर्व भागमें इस बातको दिखला दिया है कि बौद्ध तथा शङ्कराचार्य, महमूदगजनवी, औरंगजेब आदिके जमानेमें जैन ग्रन्थरत्नोंके साथ २ जैनका योंशा भी प्रलय हुआ था फिर भी इस प्रलय युगसे बृहदवशिष्ट काव्य भाग भारतमें उपस्थित हैं।

आप लोगोंको जो काव्य दृष्टिगोचर होते हैं वह प्राय सम्पूर्ण निर्णयसागरके छपे हुए ही होंगे, क्योंकि जैनसमाज अपने धनके सामने ऐसे रत्नोंको थोड़ा ही कुछ मूल्यवान् समझती है? नहीं तो भारतादि देशोंमें रक्खे हुए अपने काव्यरत्नोंको प्रकाशित न करती? देखिये जितने भी जैन काव्य "निर्णयसागर"से प्रकाशित हुए हैं, वह सब जयपुरकी सरकारी लायब्रेरीसे प्राप्त हुए हैं। यह लायब्रेरी प्राईवेट तथा अन्दर है। इस लायब्रेरीमें जैन काव्योंकी उपस्थिति बहुत है, उसमेंसे बहुत थोड़े प्रकाशित हुए हैं किन्तु वैष्णव काव्य

निर्णयसागरमें बहुतसास पाये जाते हैं इसलिये अपनी दृष्टिमें बहुत कम आते हैं, किन्तु यदि आप प्रकाशित तथा अप्रकाशित दोनोंको मिलाकर वैष्णव काव्योंसे तुलना करेंगे तो जैन काव्योंकी गणना किसी प्रकारसे भी कम नहीं हो सकती।

जैन महाकाव्य समुद्रके अन्दर जो विचित्र रत्न स्वरूप एकाक्षर वा द्वयाक्षरके श्लोक उपस्थित हैं, पाठकोंको हम उन्हींका सिंहावलोकन कराते हैं।

रोरोरा रैररैरेरी रोरो रोरुररेररिः।
रुरुरूरुररूरोरारारीरैरुरोररम् ॥ (म० चन्द्रप्रभ १९ सर्ग)

अर्थ–चिल्लाते हुए शत्रुके त्यागशील कुबेरको, तिरस्कृत करनेवाले शत्रुको, चक्रोंके आक्षेपसे प्राप्त कर लिया (अथवा चक्राक्षेपोंके द्वारा शत्रुका शत्रु स्वयं आगया।)

" ककाकुकङ्करुकांककोकिकोकैककुःककः।
ककुकोंकःकाककाककःकाकुकुककाङ्कुकः ॥ (महा० नेमिनिर्वाण)

अर्थात् देखिये विचित्र एकाक्षरसे समुद्रका कैसा सुन्दर वर्णन किया है।

ककः किं कोककेकाकी किं काकः केकिकोऽककः।
कोकः कुकैककः कैकः कः केकाकाकुकाककः ॥ (महा० धर्मशर्माभ्युदय)

अर्थ–चक्रवाक हसके समान गमन करनेवाला बगुलाके आकार तथा मयू के समान स्वरूप धारण करनेवाले कौएके आकार, स्वर्ग, पृथ्वी जलमें अद्वितीय होकर कुटिलतासे मयूरके समान शरीरको समान बनाकर कुटिलतासे युद्ध करता भया।

" नगोरगगुरुश्रांग गौरगोगुरुरुग्रगुः।
रागागारगिरैरगैरग्रेऽगां गुरुगीरगात् " ॥ (धर्मशर्माभ्युदय)

अर्थ–गंगा, शेषनाग तथा हिमालयके समान गौर वाणीवाले बृहस्पति तथा प्रखर है प्रकाश जिनका ऐसे बृहस्पतिके समान गानसे महानादके कारण विषके समान महानाद होता भया। (अर्थात जिस प्रकार शरीरको विष दुःख देता है इस प्रकार कर्णोंके लिये कटुक नाद)

रैरोऽरिरीरुरुरारा रोरुरारारिरेरिरत्।
रुरुरोरुरारारुरुरुरुरेररुरः ॥ (महाकाव्य द्विसंधान)

अर्थ–धन देनेवाले, और शत्रुओंके समूहको अच्छी तरहसे नष्ट करनेवाले, शब्द करनेवाले प्रतिविष्णु (श्री बलभद्र) बड़े २ आरोंको शत्रुओंके प्रति प्रेरित करते भये और शत्रुओंके हृदयको घायल करते भये।

यहां रामायण पक्षमें (द्वितीयार्थ) धन देनेवाले, शत्रुओंके समूहको नष्ट करनवाले,

शब्द करनेवाले प्रतिविष्णु लक्ष्मणजी बडे २ आरोंको शत्रुओं (रावण पक्षवालों) के प्रति प्रेरित करते भय और शत्रुओंके हृदयोंको व्याप्त करते भये।

वीरारिवैरवारी वै वव्रे रविरिवोर्वराम्।
विवोवरैरावविवैरवोवावा विरावयान् ॥ (प० द्विसंधान)

अर्थ–वीर शत्रुओंके वैरको नष्ट करनेवाले अपराधियोंके अपकारको भगानेवाले गम्भीर ध्वनिवाले सूर्यके समान लक्ष्मणजीने अच्छी तरह धान्यसे पूर्ण पृथ्वीको अपने प्रखर तेज मह ससे आच्छादित कर दिया।

द्वितीय अर्थ–वीरशत्रुओंके वैरको नष्ट करनेवाले अपराधियोंके अपकारको भगाने वाले, गम्भीरध्वनिवाले केशवके समान रामचन्द्रजीने अच्छी तरह धान्यसे पूर्ण पृथ्वीको अपने प्रखर तेजोमहत्वसे आच्छादित कर दिया।

ऐसे विचित्र एकाक्षर व्यञ्जन, द्व्याक्षर व्यञ्जनके अनेक श्लोक हैं। इस बातका हम लोगोंको विशेष गौरव मानना चाहिये। प्रिय पाठकवृन्द! जैनेतर कवियोंने मुख्यतया आठ रस माने हैं तथा पीछेसे यह भी कह देते हैं कि " शान्तोऽपि नवमो रस " किंतु पूज्य जैनाचार्योंने शान्तरसको खूब अपनाया है। वास्तवमें यह ही योग्य तथा न्यायानुकूल भी है। क्योंकि बिना रसके काव्य ऐसा है जैसे अच्छे भोजनमें लिमकका नहीं होना

साधुपाकेप्यनास्वाद्यं भोज्यं निर्लवणं यथा।
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह ॥ (वाग्भट्टालंकार)

तथा वाग्भट्टालंकारमें रसोंको कहा है।

शृंगारवीर करुणाद्भुत हास्य भयानकाः।
रौद्रबीभत्सशान्ताश्च, नवैते निश्चितावुधैः ॥ (वा० अ०)

अर्थात्–शृंगार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य, भयानक, रौद्र, वीभत्स, शान्त ये नव रस बुद्धिमानों द्वारा निश्चित हैं।

सब महाकाव्योंमें इस शान्तिरसको प्रायः उच्च स्थान ही दिया है। अब हम "चन्द्रप्रभमहाकाव्य"के लिये कहेंगे। यह उत्तम काव्य श्रीयुत वीरनन्दिने बनाया है। इसका तथा कालिदास द्वारा विरचित रघुवंश महाकाव्यका हम मिलान करते हैं।

रघुवंशके दूसरे सर्गका श्लोक तथा चन्द्रप्रभके चतुर्थ सर्गका प्रथम श्लोक देते हैं।

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥

(रघुवंश)

अथ प्रजानां नयनाभिरामो लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्गः ।
वृद्धिं स पद्माकरवत्प्रपेदे दिनानुसारेण शनैः कुमारः ॥

प्रिय पाठकवृंद ! देखिये वीरनन्दि, कालिदासकी काव्यरचनाके विषयमें शैलीकी उत्तमता यहाँ देखिये । कालिदासकी कल्पना शक्ति, बुद्धि पाटव, आलंकारिक रचना देखकर वीरनंदिके शिष्यकी तरह मालूम होते हैं । तथा चन्द्रप्रभके प्रथम सर्गमें देशवर्णन ऐसी उत्तमतासे लिखा गया है कि, रघुवंशमें तो क्या ? बल्कि कालिदासके दूसरे काव्योंमें भी पाना असम्भव है । उदाहरणके लिये हम कुछ श्लोक देते हैं—

मदेन योगो द्विरदेषु केवलं विलोक्यते धातुषु सोपसर्गता ।
भवन्ति शब्देषु निपातनक्रियाः कुचेषु यस्मिन्करपीडनानि च ॥

अर्थात् उस नगर (रत्नसंचयपुर) में हस्तिओं ही में मद केवल था, तथा धातुओंमें ही उपसर्ग पाये जाते थे तथा निपातनक्रिया शब्दोंमें ही पाई जाती थी, करपीडा (हस्तपीडा) कुचोंमें ही पाई जाती थी । अर्थात् उस रत्नसंचयपुरमें हस्तिओंमें ही केवल मद था किन्तु मद=घमंड=लोकमें नहीं था तथा धातुओंमें ही उपसर्ग पाया-जाता था । किन्तु उस नगरमें उपसर्ग, उपद्रव नहीं पाये जाते थे । शब्दोंमें ही निपातनक्रिया थी किन्तु उस नगरमें निपातन मारण नहीं था, तथा कुचोंमें ही करपीडा हस्तपीडा थी, किन्तु उस देशमें करपीडा=अनिकरलाग=नहीं थी ।

ऐसे ही बहुत अच्छे २ श्लोकोंमें देशवर्णन, राजाका वृत्तान्त दिया है । द्वितीय सर्गमें उद्यानका कैसा अच्छा वर्णन किया है तथा इसमें न्यायका मूलदर्श दिया है जो कि विशेष गम्भीर तथा सरल श्लोकोंसे सुसज्जित है । चन्द्रप्रभका धर्म-राजनीतिका कैसा उत्तम वर्णन किया है जिनको देखकर बहुत आश्चर्य होता है । पाठकोंके लिये हम देते हैं ।

वाञ्छन्ति भूतीः परमप्रभावा मौलीविजस्त्व जनमात्मनीनं ।
जनानुरागं प्रथमं हि तासां निबन्धनं नीतिविदो वदन्ति ॥
समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात्सम्पदां निर्व्यसनत्त्वमस्य ।
वश्ये स्वकीये परिवार एव, तस्मिन्नवश्ये व्यसनं गरीयः ॥
यियासुरेन तदिहात्मवश्यं, कृतज्ञताया. समुपैहि पारम् ।
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकं ॥
धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं त्वमर्थकामौ कालिदोषमुक्तः ।
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः ॥
वृद्धानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विधेहि प्रहतप्रमादः ।

विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्र ॥
निगृह्णतो बाधकरान् प्रजानां भृत्यांस्ततोऽन्यान्नयतोऽभिवृद्धिम् ।
कीर्तिस्तवाशेषदिगन्तराणि, व्याप्नोतु वन्दिस्तुतकीर्तनस्य ॥
कुर्याः सदा संवृतचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजेहितानि ।
गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥

(चन्द्रप्रभ ४ सर्ग ३६–४२)

अर्थ–हे पुत्र उत्कृष्ट प्रभाववाली विभूतियोंको चाहते हो तो अपने जनों (प्रजा)को कभी दुःखित मत करो, क्योंकि नीतिज्ञ कहते हैं कि उन सम्पत्तियोंके आनेका प्रथम कारण जनोंका अनुराग ही है।

(प्रजानुरंजन शासन शासन है, नहीं तो [illegible] निश्कासन है)

[तथा सम्पत्तियोंका समागम निर्व्यसन राजाके होता है]

निर्व्यसन नरेशके सम्पत्तियोंका आगमन होता है, तथा राजाका निर्व्यसनत्व, अपने परिवारके वश करनेपर ही होता है, अपने परिवारके वशमें न करनेसे व्यसन (दुःख) गरीय (अतिशय बड़ा) होता है। अपने परिवारके वशमें रखनेकी इच्छा रखनेवाला राजा कृतज्ञताके पारको प्राप्त होवे। क्योंकि दूसरे २ गुणोंसे सहित होने पर भी कृतघ्न (किये हुए ऐहसानको न माननेवाला) समस्त लोकको दुःखित करता है।

कलिकालके दोषोंसे रहित हे राजपुत्र! तुम धर्माविरुद्ध धन, कामकी वृद्धिको प्राप्त करो क्योंकि युक्तिसे धर्म, अर्थ, कामको सेवन करनेवाला नरेश इस लोक, परलोक दोनोंको सिद्ध करता है। अपने प्रमादको नष्ट कर अपने तमाम कार्य वृद्धोंकी अनुमतिसे सदैव करो क्योंकि बृहस्पतिसे विनीयमान (कहा हुवा) इन्द्र, सुरेन्द्र, लीलाको प्राप्त होता है, अथवा वृद्धसे विनीयमान राजा इन्द्रलीलाको प्राप्त होता है। प्रजाको बाधा करनेवाले ऐसे राज्यके नौकरोंको निग्रह, और प्रजाकी उन्नति करनेवाले एस राज्य नौकरोंका अनुग्रह करनेसे, बन्दिजनोंसे स्तुति होनेवाले ऐसे राजाकी (तुम्हारी) कीर्ति सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त होवगी। (इस श्लोकके अनुसार वर्तमान नौकरशाही जो कि प्रजाको बाधा कर रही है, उसके लिये निग्रह स्वरूप असहयोग जिसका प्राण अहिंसा है करना जैन समाजका धर्म, कर्तव्य एवं च शुभनीति प्रतीत होती है।

हमेशा अपनी चित्तवृत्तिको प्रकाशित मत करो जिससे कि तुम्हारे विचार केवल कार्यके फलसे अनुमान किये जाय, क्योंकि गूढ़ विचारवाला पुरुष जो है सो दूसरेके विचारको जान सकता है किन्तु दूसरे लोग उसकी मंत्रणाओंको नहीं जान सकते।

प्रिय पाठक वर्ग विचारिये कितनी बड़ी चढी हुई उच्चकोटिकी राजनीति है, यदि

यह राजनीति काममें लाई जाय तो आज भारतवर्षकी यह दशा नहीं होती। प्रिय पाठक वृंद, मैं अब "धर्मशर्माभ्युदय"की उत्तमता दिखाता हूं। इस महाकाव्यके रचयिता श्रीयुत कवि हरिचन्द्रकी प्रशंसा बहुतसे प्राचीन विद्वानोंने की है, उनमेंसे हम "कादम्बरी"के रचयिता श्रीयुत बाणकवि "हर्षचरित"में कहेगये पद्यको दिखाते हैं।

पदबन्धोज्ज्वलो हारी, कृतवर्णक्रमास्थितिः।
भट्टारहरिश्चन्द्रस्य, गद्यबन्धो नृपायते ॥ (हर्षचरित)

प्रिय पाठकवृन्द ! प्रसिद्ध बाणकवि भी कहता है कि पदब धोंसे उज्ज्वल, हारी, ऐसी भट्टारहरिश्चन्द्रकी गद्यबन्ध नृपकी तरह आचरण करती है। उन्हीं श्रीयुत कविराज हरिश्चन्द्रकृत यह एक मनोहर पद्यकाव्य है।

इसकी हम क्या प्रशंसा करें इसके प्रथम सर्गमें सज्जनदुर्जन वर्णन बहुत चातुरीसे किया जाता है। उदाहरणार्थ हम दो पद्य उद्धृत करते हैं।

गुणानघस्तान्नयतोऽप्यसाधुपक्षस्य यावाद्दिनमस्तु लक्ष्मी ।
दिनावसाने तु भवेद्गतश्री राज्ञः समासानिधिमुद्रितास्यः॥ धर्मशर्मा०
उच्चासनस्थोऽपि सतां न किंचिन्नीच' स चित्तेषु चमत्करोति ।
स्वर्णाद्रिशृंगाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक एव॥ ध० श०

प्रिय पाठक वृंद ! ऊपरके श्लोकमें श्लेषगर्भित स्वभावोक्तिको दुर्जनके लिये कैसा दिखलाया है सो विचारिये। तथा दूसरेमें दुर्जनके लिये कैसा अर्थांतर दिखलाया है।

तथा इसी तरह इस ही पहिले सर्गमें जम्बूद्वीप, सुवर्णगिरि तथा रत्नपुर नामके ग्रामका वर्णन पदलालित्य, अलंकार, रस, उपमा, उपमेय आदिसे अधिकतम सुन्दर बना दिया है। जो कि नैषध माघमें नहीं पाया जा सक्ता। तथा पांचवें सर्गमें स्वर्गसे उतरती हुई देवांगनाका अत्यंत मनोहर ऐसा वर्णन किया है जो कि नैषध, माघमें इन देवांगनाओंका ऐसा वर्णन ही नहीं मिलता तथा सुन्दरके साथ २ वृद्धावित्वके साथ किया है, जिसको कि बहुतसे महाकाव्यों सिर्फ ३-४ श्लोकोंसे किया होगा। तथा इसी तरह इस महाकाव्यके कुल दसवें सर्गमें विन्ध्याचल पर्वतका कैसा उत्कृष्ट उत्तम वर्णन किया है जो कि किसी काव्यके अन्दर नहीं पाया जाता है, तथा ११ वें सर्गमें ऋतुओंका वर्णन विशेष उल्लेखनीय है किन्तु हम उसका दृष्टांत स्वरूप देनेमें बिलकुल असमर्थ हैं, क्योंकि अभी बहुत दूर पड़ाव है,

अब हम हर्षकवि, श्रीयुत हरिचन्द्र कविजीकी काव्यरचनाका मिलानकर "महाकाव्य" के भागको खतम करेंगे।

श्रीयुत हर्षकवि राजा नलकी विद्याके वर्णनमें कहते हैं—

"अधीतिबोधचरणाप्रचारणै, दशाः चतुस्रः प्रणेयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्त्व कृतवान् कुत' स्वय, न वेद्मि विद्या सुचतुर्दश स्वय

अर्थ—महाराजा नल अधीति, ज्ञान, आचार, प्रचार से विद्याओंमें ४ पर्नेको क
तथा उन्होंने स्वय १४ विद्याओंको प्राप्त कर लिया। मैं नहीं जानता कि राजा नल
१४ विद्याओंको कैसे प्राप्त किया।

तथा कविवर हरिचन्द्रजी राजाकी विद्याका वर्णन करते हे।

ततः श्रुताम्भोनिधिपारदृश्वनो, विशङ्कमानेव पराभव तदा।
विशेषपाठाय विधृत्य पुस्तक कराग्र मुञ्चत्यधुनापि भारती (धर्म

अर्थ—श्रुतसागरके पारको प्राप्त ऐसे इस राजासे पराभव(हार)की आशकासे ही मा
विशेष अध्ययनके लिये सरस्वती अपने हाथसे आज भी पुस्तकों नहीं छोड़ती है। विच
रिये पाठक उभयकाव्योंकी उत्तमता। अब हम और भी इस विषयमें मिलान करते हैं।

हरिचन्द्र कवि राज्ञीके वर्णनमें कहते हैं —

कृतौ न चेत्तेन विरञ्चिना सुधानिधानकुम्भौ सुदृश' पयोधरौ।
तदङ्गलग्नोऽपि तदा निगद्यता स्मर' परासु कथमाशु जीवित'

अर्थ—उस सुभ्रताके दो स्तन यदि ब्रह्माने अमृतके कोष नहीं बनाये।
फिर कहिये उसके शरीरमें लगा हुआ मृत कामदेव किस तरह जीवित हो गया। त
हर्ष कवि कहते हैं —

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोऽर्मिते कान्तिझरैरगाधिता।
स्मरयौवनयो खलु द्वयो. प्लवकुम्भौ भवत. कुचावभौ॥

अर्थ—कातिरूपी झरनोसे अगाधित दमयन्तीके शरीरमें विद्यमान काम
यौवनके लिये उसके कुचयुग तैरनेके लिये दो घड़ोंके समान होते भये।

कपोलहेतो' खलु लोलचक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकर द्विधा
विलोक्यतामस्य तथा हि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रण

अर्थ—चचल हैं चक्षु जिसके ऐसी राज्ञीमें ऐसे कपोलोंके कारणसे ब्रह्माने चन्द्रम
द्विधा विभक्त कर दिया। अतएव कलङ्कके छलसे सिलाईका निशान दीख पड़ता है।

तथा हर्षकवि कहते हैं—

'हृतसारमिवेन्दुमण्डल, दमयन्ती वदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते, धृतगम्भीरखनीखनीलिम्' ॥

अर्थ—ब्रह्माने निश्चय करके दमयन्तीके मुखके बनानेके लिये चन्द्रमाका

सार खींच लिया अतएव सार खींचनेसे श्याम हुए चन्द्रमामें पुतीहुई सफेदी के छुटजानेसे बीचमें कालिमा दिखाई पडती है।

पाठकवृन्द देखिये कवि हरिचन्द्रजीकी कवितामें कितना रससौन्दर्य है।

इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टेः कलशार्पणोत्सुकः।
लिलेख वक्रे तिलकांकमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति मंगलाक्षरं ॥
(धर्मशर्माभ्युदय)

इस श्लोकमें कविने स्वीकृति वाचक ॐ शब्दको किस अद्वितीयरूपसे दिखाया है।

इन्हीं कवि हरिश्चन्द्रजीकी एक उत्तम कल्पना दिखाते हैं।—

यदीरिते श्रीरतिकीर्तिकान्तिभिः श्याम एतामिति मौनवान्विधिः।
लिलेख तस्या तिलकांकमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति सगतोत्तरं ॥

अर्थ—श्री, रति, कीर्ति, कांति इन्होंने जिस समय ब्रह्माजीसे प्रार्थना की उसी समय मौनी ब्रह्माने तिलका चन्हित भौं इसके बहानेसे ॐ (अर्थात् मैं स्वीकार करता हूँ) ऐसा समुचित उत्तर लिखा दिया। इसी तरह इनकी प्रत्येक कवितामें नवीन२ सुन्दर कल्पना भरी हुई हैं।

प्रियपाठकवृंद ! इसी तरहसे महा० द्विसधान जिसमें कि एक साथ महाभारत, रामायण दोनोंका एक साथ ही श्लोकोंसे अर्थ लगता चलता है। उदाहरणार्थ हम इसका भी उल्लेख अवश्य करेंगे।

केयरपार्थोमधुरा न भारती कथेव कर्णान्तमुपैति भारती।
तनोति सालंकृति लक्ष्मणान्विता सता मुदं दशरथे यथा तनु ॥
१ सर्ग

प्रियपाठकवृंद ! इस काव्यके उपर्युक्त श्लोकसे आप अनुमान करसकते हैं। तथा इस काव्यके अन्दर विशुद्ध, तथा उच्चकोटिके राजनीतिका वृत्तांत आया है। जो कि ऐसे नाजुक जमानेमें उसका कथन भारतके लिये अच्छा होता। प्रियपाठकवृंद द्विसधानकी तरह चतुःसधान, चतुर्विंशति सधान उपस्थित हे जो कि कवि जगन्नाथने बनाये हैं,इनमें-से चतु सधानके हरएक श्लोकका अर्थ चार चार कथाओंके अनुसार चार ४ अर्थवाला होता है तथैव दूसरे चतुर्विंशति सधानके हरएक श्लोकका अर्थ २४ कथाओं (२४ तीर्थकर) के अनुसार चौवीस २४ होते हैं। और इसीतरह "सप्तसधान" के भी सात २ अर्थ लगते हैं। यह महत्त्व जैनेतरोंको नहीं मिलता लेकिन लेख विस्तर होजानेके कारण हम इस विषयको न कहकर अब खडकाव्योंकी मनोहर वाटिकामें आप लोगोंको लिये चलता हूं "पार्श्वाभ्युदय" काव्य जो कि श्रीयुत जिनसेनाचार्यने कालिदासके "मेघदूत"

पर रचा था। मघदूत शृंगारमय है किन्तु अजितसेनजीने उस मेघदूतका एक २ या दो २ चरण लेकर शृंगाररससे बिल्कुल वैराग्यरसमें परिणतकर वास्तवमें ताँबाको सोना बना दिया है। इस ग्रंथका सिर्फ एक श्लोक दिखाते हैं कि यक्ष नगरीमें मद्य पीनेका विधायक थां। उसका कैसे ढंगसे निषेध किया है।

लोलापाङ्गा सुरसरसिकाः प्रोन्नतभ्रूविकारा ।
प्राणेशाना रहसि मदनाचार्यक कर्मुमीशा ।
स्वाधीनेऽर्थे विफलमिति वा वा मनेना च यस्या ।
मासेऽन्ते मधुरलिफल कल्पवृक्षप्रसूत ॥ (पार्श्वाभ्युदय)

प्रियपाठकवृन्द इसी तरह इस काव्यमें उत्तम १ श्लोकोंमें
तथा रत्नसिंह कविने अपने " प्राणप्रिय काव्य "
पादलेकर समस्यापूर्तिकी कैसी खूबी दिखाई है वह यह एक उदाहरणसे आजायगी।

एतन्मदीरित वचः कुरुनाथ नो चेत् ।
रोरत्यत्वर नरपति' स्वयमुग्रसेन ।
कुर्वन्तमुग्रमतपोऽपि भवन्तमेषः ।
नाभ्येति किं निजशिशो परिपालनार्थ'

और भी जैन संसारमें बहुतसे खंडकाव्य हैं।
जिसको कि स्वामी सम तभद्रजीने बनाया है।
जिसके पद्य "अलङ्कारचिन्तामणी" म पि
और हम बताते हैं। हम उसके सिर्फ ३ या ४ पद्य
द्व्यक्षर श्लोक शायद ही किसी जैनेतर काव्यमें
दिखलाते हैं।

मानोनानामननाना मुनीनां मा।
मनूनामनुनोमीम

और भी प्रासादगुणविशिष्ट गत प्रत्यागत
उल्टे बाचने पर भी वही) देते हैं।

" नतपाल महाराज गीत्या
रक्ष मामतनुत्यागी जराहर ॥

ऐसे श्लोक बनानेमें अर्थक्लिष्ट दोष नहीं
प्रासादके हैं कि देखने ही अर्थ मालूम पड़ जाता है।

और भी १ श्लोक यह है कि जो सब चित्रों की खानि है।—

"पाराधाररवारावारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा।
धामानाममनामाधारक्ष मर्द्दर्द्दमक्षर॥

इसका द्वितीयपाद मध्ययमक है। और अताल भी व्यंजन है। और अवर्ण ही स्वर है। गढ़ द्वितीय पाद है (अर्थात द्वितीय पादके अक्षर तीनों चरणोंके अन्दर पाया जाता है) और गत प्रत्यागत (अर्थात प्रत्येक चरणको उल्टा सीधा बाँचे जाने पर कोई भी परिवर्तन नहीं होता) और अर्धभ्रम है। अर्थात प्रत्येक चरणका पहिला अक्षर और अंतका अक्षर मिलानेमे पहिला पाद बन जाता है ऐसा ही प्रत्येक पादका द्वितीय २ अक्षर, उपान्त्य जोडनेसे द्वितीय पाद बन जाता है। ऐसा ही तृतीय और चतुर्थ चरण समझना और इसमें सर्वतोभद्र है। इसका चित्र नीचे दिया जाता है।

(सर्वतो भद्रचक्र)

पा	रा	धा	र	र	धा	रा	पा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
धा	मा	ना	म	म	ना	मा	धा
र	क्ष	म	र्द्द	र्द्द	म	क्ष	र
र	क्ष	म	र्द्द	र्द्द	म	क्ष	र
धा	मा	ना	म	म	ना	मा	धा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
पा	रा	धा	र	र	धा	रा	पा

इसी चित्र प्रकरणमें अलंकार चिंतामणि चक्रकी स्वनामगर्भित एक चक्रचित्र भी दर्शाते हैं इसमें " अजितसेनकृत अलंकारचिंतामणि भरतयशसि" यह किस चातुर्यसे निकलता है यह इस चित्रमें दिखलाया गया है।

(यह चक्र चित्र न छप सकनेसे नहीं दिया गया है) इस चक्र चित्रका श्लोक इस प्रकार है—

माननीय विचारशील सुहृत्तम पाठकवृन्द ! जिस समय हम बहुविस्तृत हिन्दी जैन काव्यसागरकी तरफ दृष्टिपात करते हैं तो हमारी दृष्टि वहासे हटती नहीं है। और वहा पर चचल मनको भी अपने स्वभावको बाध्य होकर बदलना पड़ता है। और वह अपने द्वारपाल चक्षुयुगलको वहापर खड़ाकर आप इस विस्तीर्णसागरमें मनोनीत माणिक्य पुञ्जकी प्रबल ग्रहणेच्छासे प्रवेश होता है। धैर्य विभूषित सज्जनवृन्द ! आप शातचित्त होकर थोडे समयके लिये आप भी इस अनतसागरके तट पर एकाग्रचित्त हो बैठिये। थोडे ही समयमें यह सेवक हिन्दी जैनकाव्योसमरत्नपुञ्ज भेंटमें सम्मानित कर आपसे विदा लेगा।

प्रथम जिससमय हम जैन हिन्दीपुराण काव्य, आदिपुराण, महापुराण, हरिवंश पुराण, पॉडवपुराण, पुण्यास्रव, यशोधरचरित पुराण, आदि जैन पुराण काव्यनिकुञ्जमें घुसते हैं तो शब्दार्थालकारोंकी शोभासे पूर्ण, एवं च नूतन नानागुणोंकी सुगन्धित मालाओंसे सजे हुए एक ऐसे निकुँजमें पहुँचते हैं—जहा पर धर्म, शान्तिका वायुमण्डल प्रतिक्षण हमारे त्रस्त, चचलहृदयको,अनुपमशान्त वैराग्यमें स्थित बनाता है। इस पवित्र निकुँजमें अधर्म, हिंसादुर्गन्धयुक्त वायुका प्रवेश अन्य परिकल्पित लिंग पुराणादिककी तरह कहीं भी किसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्र द्वारा नहीं हो पाता, क्योंकि इन पुराणनिकुँजोंकी चारों दीवालें अहिंसारूपी ईंटों तथा शान्तिके शिलाओंसे बहुत मजबूतीके साथ बनी हैं। जिसतरहसे अन्यपुराणोंमें कपोलकल्पित, नितान्तासभव, भ्रमोत्पादक तथा हिंसा घृणा करतादि विषयोंकी, अत्याधिक्य मर्यादाके उलघन करनेवाला वर्णन पाया जाता है। जैसे कि ब्रह्माजी की उत्पत्ति पद्मसे हुई है (१) सीता की उत्पत्ति बिना माता पिताके हुई है (२) तथा, एक गौमें ३३ कोटि देवता वास करते हैं इत्यादि असंभव मिथ्या तथा विशेषवासनाओंके जालमें फँसानेवाली कथाओंका वर्णन जैसे वैष्णव पुराणोंमें पाया जाता है वैसा वर्णन भव्य, सभ्य, काव्यनिकुञ्जवृन्दमेंसे किसी भी काव्यके सूक्ष्मतमाशमें भी अनुसधानकारियोंके दृष्टिपथ नहीं होता। प्राय इन वैष्णव पुराणोंकी ऐसी निर्मूल, अत्यन्तासभव हिंसासे आढ्य (प्रचुर) देखकर ही हमारे यूरोपीयलोग मनगढत, मिथ्या, भ्रमोत्पादक, मखारके वर्णनके लिये उपमाका काम लेते हैं।"अस्तु"। हम दृष्टांतस्वरूपमें इनके (जैन पुराणोंके) हृदयग्राह्य इस लेखमें लिखकर इस लेखका वृहदाकार न करेंगे। किंतु दिलमें सदैव चुभनेवाले (हर्षोत्पादक) यशस्तिलकचरित पुराणके बारेमें अवश्य लिखेंगे। इस पवित्र पुराणको पढनेसे राक्षसी प्रकृतिवाले मनुष्यके भी हिंसासे घृणा होकर पवित्र अहिंसामय जीवनका सगठन होगा। तथा इस पुराणमें कविने किस सौंदर्य अनुपम अहिंसासे वर्णन किया है कि पाठक महोदयोंके रोमाच खड़े होजाते हैं

इस बातको हमारे वन्दनीय स्वाध्यायियों तथा भाषाके विद्वान स्वाध्याय कर अपने हृदयोंमें स्थिरताको पा सकेंगे। मैं अब पुण्याश्रवादि उत्तमोत्तम जैनकाव्योंकी उत्तमता बतलानेके लिये समय नहीं रखता। फिर भी काव्योत्तम पार्श्वपुराणादिकोंके कुछ चुने हुए कुसुमोंसे आप सज्जनोंपर वर्षा करता हुआ इस प्रकरणको समाप्त करूंगा।—

वास्तवमें कविवर भूधरदासजीने श्री पार्श्वनाथ पुराणको काव्य रचना अति मनोहर काव्य बनादिया है। दृष्टांतके लिये हम उनका आद्यका स्तवन देते हैं—

भुवनतिलक भगवंत, संतजन कमल दिवाकर।
जगतजंतु बंधव अनंत, अनुपम गुणसागर॥
रागनाग मयमंत, दंत-उच्छेदन बलि अति।
रमाकंत अरहंत, अतुल जसवंत जगतपति॥
तथा च-विमलबोधदातार, विश्व विद्या परमेसर।
लछमीकमलकुमार, मार मातंग-मृगेसर॥
मुखमयंक अवलोकि, रंक रजनीपति लाजै।
नाममंत्रपरताप, पाप पन्नग डरि भाजैं॥

क्या ही आदरणीय तथा आलंकारिकभूषणोंसे सज्जित है। पाठक समा करें, हमें कविकी इस लेखनशैलीकी उत्तमताको देखकर आश्चर्य होता है तथा हम इसी पुराणके और श्लोक कुछ देंगे जिससे कि इनकी विद्वत्ताका पूर्ण पता लगे—

जय अश्वसेन कुलचंद्र जिन, सक्र चक्र पूजित चरन।
तारौ अपार भवजलधितें, तुम तरंड तारन तरन॥
बाघ सिंह वस होयहिं, विषम विषधर नहिं डंकै।
भूत प्रेत वेताल, व्याल वैरी मन संकै॥
साकिनि डाकिनि अगनि, चौर नहिं भय उपजावैं।
रोग सोग सब जांहि विपति नेरे नहिं आवैं॥ (पा० पु०)

पाठकवृंद, कविकी इस अनुपम कविताके शब्द, अलंकार, अर्थ आदिको देखकर क्या आप आह्लादित होंगे। अब हम कहीं कविता नहीं कह सकते कि, जैनेतर काव्योंमें ऐसे पुराणादि उपस्थित होंगे। अब इसकी उत्तमताका वर्णन क्या करें यह हिंदीमें रचा बनाया हुआ "जैनशतक" भी है। इसकी कुछ बानगी हम आपको देते हैं—

[illegible] चिंता चित होय अकामी।
चितवत चरन, अमल चंद्रोपम, तजि चिंता चित होय अकामी।
त्रिभुवन चंद पाप तप चंदन, नमत चरन चंद्रादिक नामी।

चमेली, आदि विचित्र पुष्पोंपर विहार करनेवाले काले काले भ्रमर, व प्राकृतिक नानाप्रकारके दृश्य, कनककणिकामय बालक पुत्र मनुष्यके संकुचित हृदयकमलको जैसे सगद्गद और हर्षित विकसित करते हैं, वैसे ही काव्यकुंजमें, शृंगार, वीर, करुणा, शांतादि रस, उपमा रूपक चित्रादि विचित्र अलंकारोंसे मनुष्यका स्वच्छचित्त, शृंगार, वीर, करुणा, व शांतरसमें भीग जाता है। तथा बार २ उन आनंद लहरियोंमें लहराया करता है। तदनुसार जैन काव्योंसे आनन्द और आनन्दके साथ २ अनुपम, अनिर्वचनीय आनंदकी प्राप्ति होती है।

अब यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि काव्य क्या वस्तु है और इसकी क्या व्युत्पत्ति है?

श्री जैन व्याकरण मतानुसार इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है कि " जिनो देवता यस्य स जैन जैनानां काव्यानि, तेषां महत्वमिति जैन काव्यमहत्वम् " अर्थात् जैन काव्योंका महत्व, अथवा जैन काव्येष्वेव महत्वम् जैनकाव्य महत्वम्। अर्थात् जैन काव्योंमें ही महत्व (खुबी) है, जैनेतर काव्योंमें नहीं है। अथवा केवल काव्य शब्दकी व्युत्पत्ति की जाय तो कि " कम् अम् इति कौ तौ व्येति प्राप्नोति सन् काव्य अर्थात् आत्मसुख या स्वर्गादि सुख, मोक्षको प्राप्त करता है या कराता है उसे काव्य कहते हैं, क्योंकि "चतुर्वर्गफलप्राप्ति काव्यादेव प्रवर्त्तते " अर्थात् धर्म, अर्थ, काम मोक्षकी प्राप्ति काव्यसे ही होती है। अथवा कम्य प्रमाण विज्ञो इति कवि कविरिव अयमिति कवि तस्य कर्म काव्य अर्थात् जिस प्रकार हंस पक्षी दूध पानीका भेदकर सार भाग दूधको ग्रहण करता है, उसी प्रकार कवि विद्वान दुर्भवतादि हेय पदार्थोंको छोड़कर सार उपादेय मोक्षादि या सारोंको ग्रहण कर आत्मसुखमें निमग्न हो परमपदको प्राप्त करता है। अथवा काव्यका प्रथम ककार ककार ही क्यों है, तब भी इसका स्थान सर्वोच्च सिद्ध होता है क्योंकि जैनेन्द्र महावृत्तिमें ककारका स्थान कण्ठ कहलाता है " अकुह विसर्जनीया कण्ठ्य " अर्थात्—अ कवर्ग विसर्गादि ये कण्ठ स्थानीय होते हैं, तथा यह व्यञ्जनोंमें प्रथम ही गणित होनेसे इसका सबसे वर्णोंसे विशेष अर्थ प्रतिपादकत्व है, यही कहा है कि—

" ककार सर्ववर्णानां मूलप्रकृतिरेव च, ककाराज्जायते सर्व काम कैवल्य मेव च " अर्थात्—ककार सर्व वर्णोंमें मूल प्रकृति है और ककारसे सब काम तथा कैवल्य केवलज्ञान प्राप्त होता है। अथवा " कमले दीप्यते मस्तकोपरि शोभते " इति भावः। अर्थात् सर्वांगमें जैसे मस्तकपर मणि शोभता है, वैसे ककारवर्ण शोभा सहित वांछित फलको देता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि (शकारस्यगुणोस्किराजादिभ्य ष्यये च ट्यण्) अर्थात्—इस जैनेन्द्र महाव्याकरण सूत्रसे "ट्यण्" प्रत्यय करके काव्य शब्द सिद्ध होता है।

अब यहां प्रश्न हो सकता है काव्य क्या वस्तु और क्या लक्षण है ? तो एक हिन्दी परिभाषासे विदित होता है कि—"परस्पर एक दूसरेको सहायता चाहनेवाले तुल्यरूप पदार्थोंका एक साथ किसी एक सांचेमें लगा देना" काव्य कहलाता है। इससे सत्कृत भावाके काव्य सहित सरलता, माधुर्य, रसाविष्टता, मनोहरता, पदयोजना, अर्थगूढ़, अक्षर अल्प, भाव प्राचुर्य, कांति, प्रसन्नतादि गुण समझना चाहिये।

इसलिये कविकुञ्जरोंने काव्यका विलक्षण लक्षण विवेचना और गम्भीरतापूर्वक यही किया है कि—

"चमत्कृतिजनकतावच्छेदक धर्मवत्वं काव्यत्वम्।"

अर्थात्—मनुष्यके हृदयको चमत्कार उत्पन्न करनेवाला धर्म ही काव्य कहलाता है।

अथवा—"रमणीयतार्थप्रतिपादकार्थशब्दः काव्यम्।"

अर्थात्—उत्कृष्ट तथा मनोहरताका प्रकट करनेवाला शब्द काव्य है, क्योंकि शब्द रमणीयता काव्यकी बाह्य छवालहरी है। प्रथम तो शब्द सौन्दर्य ही सहृदय हृदयी भावुकोंको काव्य पढ़नेके लिये शीघ्र उत्सुक बना देता है। पश्चात् रस, भाव, तथा अलङ्कारादि मानस सरोवरमें स्वकीय काव्य कविता कलिकाका विकास करते हैं तथा काव्यका लक्षण इस प्रकार भी करते हैं कि—

"चतुरचेतश्चमत्कारि कवेः कर्मकाव्यम्"

अर्थात्—बुद्धिमान पुरुषोंको चमत्कार उत्पन्न करनेवाला कविका कर्मकाव्य शब्दसे व्यवहृत किया जाता है। अथवा—साहित्यदर्पणकारने इस प्रकार लक्षण किया है कि—"वाक्य रसात्मक काव्यम्" अर्थात् इस शृंगार, वीर, आदि नवों ही रसोंसे युक्त काव्य कहा जाता है। यद्यपि यह लक्षण सर्व जगह व्यस्त नहीं होता है, तथापि यत्र कुत्र स्थानमें सुघटित होता है, क्योंकि बिना अलङ्कारोंसे, और निर्दोष बिना काव्य काव्य नहीं होता है इसलिये वाग्भट कविने इस प्रकार लक्षण किया है कि—

"शब्दार्थौ निर्दोषौ सुगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्"

यहीं "काव्यप्रकाश" कारने लक्षण किया है कि—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृती पुन क्वापि"

अर्थात् वाक्यार्थ पदादि दोषोंसे रहित, अलङ्कारोंसे युक्त, औदार्य, कांति, माधुर्यादि गुणोंसे युक्त शब्दार्थ काव्य कहा जाता है, क्योंकि रसात्मक वाक्योंके होनेपर भी सौन्दर्यादि गुणोंसे रहित और सदोष होनेसे काव्य प्रशंसाको प्राप्त नहीं होता, अत उक्त लक्षणोंसे युक्त ही सत्काव्य होते हैं। तथा पदलालित्य, अर्थगौरवता विषयगूढ़ता, रसपूर्णता, सुन्दरता, हृदयरोचकता, और शान्तता आदि गुणोंसे युक्त काव्य है तो जैन काव्य हैं।

काव्यके मुख्यतया तीन भेद है परन्तु इनके अवान्तर बहुत भेद हो जाते हैं। वे ३ भेद इस प्रकार है कि "गद्यपद्यमिश्रश्च विविधः" अर्थात् गद्यकाव्य, पद्यकाव्य, और गद्यपद्यमिश्रित, जैसे यशस्तिलक, जीवन्धर चम्पू आदि है किन्तु यह सब काव्य, निर्दोष होनेपर ही श्रव्य होते हैं, क्योंकि एक कविका वचन है कि—

" श्रव्य भवेत्काव्यमदूषणं यन्न निर्गुणं क्वापि कदापि मन्ये ।
उत्कोरकः स्यात्तिलकाचलाक्ष्याः कटाक्षभावैरपरे न वृक्षाः ॥ १ ॥
(" धर्मशर्माभ्युदय ")

अर्थात्—निर्दोषकाव्य श्रव्य होता है, निर्गुण कभी नहीं, ऐसा मैं मानता हूं, जैसे कामनीके कटाक्षोंसे तिलक नामका वृक्ष कलियोंसे युक्त होता है, और दूसरे वृक्ष नहीं कलिकत होते। इसलिये निर्दोष काव्य सुकाव्य और श्रव्य होते हैं, और ऐसे ही काव्यों द्वारा वास्तवमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्ति होती है। क्योंकि काव्य काव्यकुञ्जमें धर्म, अर्थ, काम मोक्षके लिये, अनर्गल अनावृत द्वार हैं। जो मनुष्य जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसके काव्य कुञ्जमें सहर्ष उसका प्रवेश हो जानेसे इच्छित पदार्थकी सिद्धि हो जाती है क्योंकि किसी कविके ये वचन है कि वे महात्मा धन्य है तथा उन लोगोंका यश सदाके लिये स्थिर है कि जिन महात्माओंने काव्य कनक कटोरियोंका बनाया है, व उनमें जिन महानुभावोंकी कथा गाथा गाई गई है, वे पुण्यवान, यशस्वी, कीर्ति कौमुदीके कौमुदीश कहलाते हैं "।

काव्य, कविता, जनताकी विद्वत्ताकी इयत्ता, सहृदयता, चतुरता, धार्मिकता, रचना चतुरता, तथा उपमा उपमेय इत्यादि भाव उसकी प्रतिभा पर प्रतिभासित कर देती है। काव्यके लक्षणानुसार पदलालित्य, सुन्दरता, रोचकता, भावगम्भीरता, मधुरता, अनिर्वचनीयताके साथ २ हुआ करती है। इसलिये मनुष्य अपने २ अभीष्ट पदार्थोंमें सक्षम हो अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करते हैं। एक भी इसका यही है कि—

" काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥ (काव्यप्रकाश)

अर्थात्—काव्य यश—कीर्तिके लिये, व्यवहार विधि, अकल्याणके नाशार्थ, 'ऋतुनिवार्थ, कान्तासमित उपदेशके हेतु—निमित्त' किया जाता है, इससे यह तात्पर्य है कि श्री रामचन्द्रादिकी तरह प्रवर्तना चाहिये रावण आदिकी तरह नहीं, कीर्ति आदि पूर्वोक्त गुणोंकी प्राप्ति, और व्यवहारादि दक्षता इसीसे होती है, इसीलिये हमारे प्राचीन कवीश्वर और कवि आचार्योंने काव्योंका प्रणयन तथा उपयोग किया। अतः पुरातन कालमें हिंसा, हीनता, हास्य, हिचक, हत्या, हेला, (अपमान) हुवाद और हठता आदि हेय दुर्गुणोंको जड़मूलसे उखाड़कर अहिंसा, हर्ष, हित, हितु, हिम्मत, होप इत्यादि हित करनेवाला काव्य कमरा

सीको प्राप्त किया था, तभीसे दीर्घदर्शिताके प्रेमी बनते हुये, सुखमय जीवन विताने लगे थे, यह सब काव्यकी महिमा थी, क्योंकि साहित्य–काव्यका चमकीला चंद्रमा जहां चमकता रहता है, वहां उस देशका, जातिका भाग्य, धन, ऋद्धि सिद्धिकी समृद्धि धन धर्म-धाम आदि सबके लिये धाम बना लेते हैं, और जहां तद्व्यतिरेक अर्थात् जहां जिस देशमें, काव्यकुंजमें कमलाधीशकी किरणें नहीं पहुंचती हैं, वह देश, जाति, धर्म, धन, धाम आदि अधोमार्गकी नसैनी बनाकर सीधा पातालवास कर लेते हैं। तथा दुर्भिक्षादि रोग, मरी, भी आकर कालके ग्रस बना देते हैं, क्योंकि किसीको कहना है कि–"मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है" अर्थात् वह देश मुर्दा कहलाता है जहां साहित्यादित्य उदित नहीं होता, अतएव चाहिये कि काव्य रचयिताको व तद्विषयके ज्ञाताओंको साथ पुरस्कारके इष्टिसाधनमें तत्पर हों, जिनसे देश जाति, धन, धर्म धाम आदिकी वृद्धि हो, और यही हमारा इष्ट प्रयोजन होना चाहिये, साथमें यह भी चाहिये कि साहित्य–काव्योंकी बड़ी बड़ी आलोचनायें हों।

इसकी पूर्व स्थिति बहुत ही उन्नत दशामें थी, यहांतक कि राजा भोजके समयमें कवीश्वरोंको एक एक अक्षरका लक्ष रुपया पुरस्कार मिलता था। लेकिन आधुनिक स्थिति-पर विचार करते हैं, तो बहुत शोक होता है, आप प्रत्यक्ष देख लें, और जिस जातिमें साहित्यकी उन्नति है वह जाति उन्नति पथपर है, और बुद्धिमान कहलाती है, दृष्टांतके लिये बङ्गाली जाति है, बङ्गालियोंमें सबसे ज्यादा प्रचार है, और उसीका साहित्य सबसे उच्च है। बस इसी तरह हमको इस समय उन्नति करना चाहिये। जिससे हम अखिल भारतवर्षमें यह प्रसिद्ध हो जाय कि जैन साहित्य (काव्य) भी एक चीज है, और जैन साहित्य पर भी लोगोंकी अंगुली गिरने लगे। साथमें काव्यकुंजमें अलङ्कार, रस, पद-लालित्य, उपमा, उपमेय, श्लिष्ट वचनोंमें सात्यता उच्च मानी जाती है, वह जैन काव्योंमें विशेषतया पाई जाती है, यह निर्विवाद सिद्ध होजाय।

भारतवर्षके सम्पूर्ण कवीश्वरोंने काव्यरचना चातुर्यमें अपने मानस सरोवरमें प्रतिकृति-हंसिनी स्थापित कर दी है अब जो उस प्रतिकृतिके आनंदले मा वोंको भी कवि–अर्थात् विद्वान् कहना आवश्यकीय है। हम जैन काव्योंकी तर्फ दृष्टिपात करते हैं, तो ऐहिक पारलौकिक सम्बन्धी श्रेयस्कार्योंका कल्पवृक्ष बनाकर कवितामय एक कुसुमित काव्यकुंजमें अनर अमर कवियोंने काव्यरचनाओंमें फलफलित, और कलित कल्प-वाले उस वृक्षको सुमनसमस्तक बना दिये हैं। तथा उस काव्य कल्पवृक्षको सारहादिन विकसित शोभित करनेवाले स्तवक (गुच्छे)के दर्शन कर सहीत्यग स्वर्गसुखको भी थोड़ा समझने लगते हैं। विशेष तो क्या उनके हृदयकमल उन साहित्य सागरमें निमग्न हो सदा

सुखपूर्वक विलोडन किया करते हैं। जिससे आत्माकी कालिमा, अपवित्रता, अरोचकता, अपमान, कुध्यान, अपमान, अज्ञान पलायमान होजाते हैं, और इसके अनन्तर दर्पणकी तरह जाज्वल्यमान, ज्ञानभानु प्रकाशित होजाता है, पश्चात् अनन्तसुख, वीर्य दर्शनादि गुण प्रगट होते हैं। तथा आत्मा कर्म समूहोंको नष्टकर मोक्ष पदवीको प्राप्त कर लेता है, यही बात जैन काव्योंमें बड़े महत्वकी बतलाई है।

अब इसके बाद अलङ्कारोंके नियममें कुछ बता देना उचित समझता हूं। क्योंकि दोषोंसे रहित होनेपर भी तथा गुणोंसे संयुक्त होने पर भी बिना अलङ्कारोंसे वाणी शोभाको प्राप्त नहीं होती है जिस तरह स्त्री बिना आभूषणोंसे नहीं शोभित होती है। अतएव अलङ्कारोंका होना वैसे ही आवश्यक है, व अलङ्कार उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दीपक, आदि भेद प्रभेदोंसे नाना तरहके होते हैं। लेकिन मुख्य भेद दो ही हैं, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, उपर्युक्त तो अर्थालङ्कारमें परिगणित किये हैं और शब्दालङ्कारके छ भेद हैं—यथा—चित्र श्लेष, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, तथा पुनरुक्तवदाभास, ये छ होते हैं। यमकादि सोमप्रभादिक ग्रंथोंमें प्राय श्लोकबद्ध होते हैं।

काव्योंकी रचना भी रीतिके अनुसार प्रतिनियत होती है, इसलिये गौ आदि देशकालके अनुसार करना चाहिये।

रसोंके बारेमें इतना ही कहना होगा कि जैनेतर काव्य प्रकाशादि रसोंका विवेचन किया है, वह इस प्रकार है कि—" शृंगारवीरकरुण इत्यादि पश्चात् लिखते हैं कि " शान्तोऽपि नवमो रस " अर्थात् रस है, इसमें अजैन कवियोंकी निर्पेक्ष बुद्धि है, अत निपक्ष बुद्धिसे लेकिन जैन कवीश्वरोंने इसको खूब अपनाया है। यहां तक कि आदिमें, मध्यमें, अन्तमें, खूब ही वर्णन किया है, और वस्तवमें इसीसे आत्माका कल्याण होता है।

श्री वाग्भटकवि अपने वाग्भटालङ्कारमें लिखते हैं कि—

" साधुपाकेप्यनास्वाद्यं भोज्यं
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो

अर्थात्—जिस तरह भोजनका अच्छी तरह पाक हो अच्छा नहीं लगता है, उसी तरह नीरस काव्य भी अ... अत यहां भी रस कहते हैं—

... रसम्

रौद्रवीभत्सशान्ताश्च नवैते

अर्थात्–विद्वान् पुरुषोंने शृंगार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य भयानक, रौद्र, बीभत्स, और शांत ये नव ९ रस कहे हैं। और इनके भी स्थायी भाव, अस्थायिभाव अर्थात् रति, हास्य, शोकादि भावोंका विस्तार किया है। इस प्रकार समत्वादि फल, क्षमादि पर यह "सूक्ष्म उपोद्घात" बाद हम जैन काव्य और इतर काव्योंको देखते हैं तो पदलालित्य, अर्थगौरव, शब्दगौरव, विषयगहनता, रसपूर्णता, सौन्दर्यादि गुण जैन काव्योंमें पाये जाते हैं, उतने अन्यमें नहीं पाये जाते हैं। यह बात जो विद्वान् व जिनके पास ज्ञान रूपी कसौटी है वे स्वयं इस सदर्शन जान सकते हैं —

इसीलिये "कादम्बरी" नाम उच्च ग्रंथके कुछ अंश आपके समक्ष उपस्थित करता हूं। कादम्बरीके रचयिता वात्स्यायन वंशमें उत्पन्न कुबेर नामक विद्वान उनके चित्रभानु और चित्रभानुके पुत्र श्री बाणकवि हैं। इन कविका समय काल अभी ठीक २ निश्चित नहीं हुआ है, किंतु इतिहासवक्ताओंको तथा मुझे भी जहांतक पता चला है तो यही मालूम होता है कि राजा हर्षवर्धनके समयमें ये कवि हुये थे। और हर्षवर्धनकी सभामें प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उक्त राजाका समय (६१०) (६५०) है। इससे सिद्ध होता है कि इसी समयके करीब करीब हुये होंगे। इन कविकी प्रशंसा गणमान्य महत्व बहुत करते हैं और चाहिये भी, लेकिन यह प्रशंसा तबतक ही ठीक होतीहै, जबतक इनसे अच्छा काव्य समक्ष विकसित न हो, नहीं तो "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" अर्थात्–द्रुमरहित प्रदेशमें अंडीका वृक्ष भी वृक्ष माना जाता है। जैसे बाणकवि, अपने "कादम्बरी" नामक गद्य काव्यमें प्रथम ही राजा शूद्रकका वर्णन करते हैं कि–

आसीदशेषनरपतिशिरः समभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवा-परः, चतुरुदधिमेखलाया भुवो भर्त्ता, प्रतापानुरागावनतसमस्त सामन्तचक्रः, चक्रवर्तिलक्षणोपेतः, चक्रधर इव करकमलोपलक्ष्यमाणशङ्खलाञ्छनः, हर इव जितमन्मथः, गुह इवाप्रतिहतशक्तिः, कमलयोनिरिव विमानीकृतराजहंसमण्डलः, जलधिरिव लक्ष्मी प्रसूतिः, इत्यादिगुणसदृशः शूद्रको नाम राजा।

अर्थात्–समस्तराजाओंपर शासन करनेवाला दूसरा इन्द्र ही हो, चार समुद्र मर्यादावाली पृथ्वीका स्वामी, प्रतापानुरागसे राजमण्डलको अवनत कर दिया है, चक्रवर्तीलक्षणोंसे युक्त, श्रीकृष्णकी तरह हस्तकमलमें शंख, चक्रको धारण करनेवाला, अर्थात् हस्तमें शंख चक्रादि प्रशस्त चिन्होंसे युक्त था, श्रीकृष्ण भी साक्षात् रे शंख चक्रसे युक्त ही है, और महादेवकी तरह कामदेवको जीतनेवाला, अर्थात् कामदेवने भस्म कर दिया तदनुसार इसने भी उसे भस्म कर दिया, लेकिन यह बात असम्भव मालूम होती है, क्योंकि अगाड़ी चलके इस

राजाको साक्षात् कामदेव ही बना दिया है, और इस गद्यमें केवल वीररस, तथा उपमाका वर्णन किया है।

अब देखिये जैन कवीश्वर श्री हरिश्चन्द्र और श्री कविसिंह श्री वादीभसिंह जिनका सांस्कारिक नाम अजितसेन था, लेकिन पण्डितोंने इनका प्रचुर पाण्डित्य देखकर "वादीभसिंह" यह नाम रक्खा। इनकी रचनाचातुर्यता विद्वत्ता, धर्मज्ञतादि गुणोंसे प्रसन्न हो जब पण्डितोंने वादीभसिंह ये नाम रक्खा तो न जाने इनकी कितनी विद्वत्ता होगी। हम यहां पर श्री हरिश्चन्द्र कविके गद्यसे मिलान करते हैं, जिससे पाठक समझ जांयगे कि किसकी गद्य रचनामें सौन्दर्य तथा पदलालित्य, अर्थगौरव है।

यश्च किल सक्रन्दन इव आनन्दितसुमनोगणः, अन्तक इव महिषी समाधिष्ठितः, वरुण इवाशान्तरक्षणः, पवन इव पद्मामोदरुचिरः, हर इव महासेनानुयातः, नारायण इव वराहवपुष्कलोदयोद्धृत धरणीवलयः, सरोज सम्भव इव सकलसारस्वतामरसानुभूतिः, भद्रगुणोऽप्यनागः, विबुधपतिरपि कुलीनः सुवर्णधरोऽप्यनादित्यागः, सरसार्थपोषक वचनोऽपि नरसार्थपोषकवचनः, आगमारयाश्रितोऽपि नागमारयाश्रितः, एतादृशः सत्यन्धरनाम राजा।

अर्थात्–महाकवि हरिश्चन्द्र राजाका वर्णन इस शैलीसे करते हैं कि राजा सत्यन्धर इन्द्रकी तरह देवता समूहको और (शब्दश्लेषसे बतलाते हैं) विद्वज्जनोंको प्रसन्न करता है, तथा देवताओंको ही प्रसन्न करता है, अत इस राजामें इन्द्राधिपत्य द्योतन किया, इतने ही वाक्यमें अतिशयोक्ति, श्लेष, उपमा, उपमेय, शब्द सौन्दर्य, अर्थ गौरव कितना है? यह आप स्वयं विचारें। अब आगे पढ़िये। कालकी तरह महिषीसे युक्त है, यहांपर भी वही बात है, अर्थात् राजा महिषी–रानी, और काल महिषी–भैंसयुक्त है। वरुणकी तरह दिशाओंको रक्षण करनेवाला है, अर्थात् वरुण देवताकी तरह है तो वरुण दिशाओंकी रक्षा करता है, और आशाओं यानी इच्छाओंको अन्त पर्यंत रक्षा करता है। वायुकी तरह कमलकी सुगन्धिसे युक्त है, अर्थात्–वायु पद्मकी आमोद सुगन्धिसे रुचिर है और, यह पद्मा–लक्ष्मीसे युक्त है। महादेवकी तरह महासेनसे अनुयात है, अर्थात् महादेव, अपने पुत्र महासेन–कार्त्तिकेयसे युक्त हैं, और राजा महासेना, अर्थात् महतीसेनासे अनुयात हैं। श्री कृष्णकी तरह पृथ्वीको धारण करनेवाला है, अर्थात् श्री कृष्णने वराहावतार धारण करके पृथ्वीका उद्धार किया है, और यह राजा, वराहवपुष्कलोदय–अर्थात् श्रेष्ठ युद्धमें पुष्कल–विशेष उदयसे धरणीवलयको धारण किया है। इत्यादि, देखिये किस चतुरता बुद्धिमत्तासे दोनों पक्ष घटाते हुये, रचना सौन्दर्य, पदलालित्य, उपमा, उपमेय, विरोध, अतिशयोक्ति, व्यतिरेकादि अलंकारोंसे कैसी

कुलिश गद्यरचना की है। तथा इन्द्र, कृतान्त, वरुण, पवन, महोदय, श्रीकृष्ण, ब्रह्मा आदि कलमोंका आरोप किया है। यह बात इस तरहकी रचना बाणकविकी नहीं है। तथा और भी राजाका वर्णन किया है कि—

"वक्त्रं चन्द्रप्रभं यद्भुजयुगमजितं यस्य गात्रं सुपार्श्वम्।"
कृत्स्नं स्वाधीनधर्मं हृदि पुरुचरितं शीतलं सुव्रताढ्यम्॥
राज्यं श्रीवर्द्धमानं कुलमतिविमलं कीर्त्तिवृन्दं त्वनन्तम्।
सोऽयं प्रत्यक्षतीर्थेश इव विजयते निखिलविद्याविनोदः॥

(जीवन्धरचम्पू)

अर्थात्—सम्पूर्ण विद्याओंका विनोदी, राजाका चन्द्रके समान मुख, किसीसे भी नहीं जीते गये भुजयुगल, अच्छे पार्श्वोंसे युक्त शरीर, स्वाधीन धर्म कार्य करनेवाला, श्रेष्ठचरित्र युक्त, शीतल सुव्रतोंसे युक्त, सदा वर्द्धमान राज्य, कुल अत्यन्त विमल, कीर्तियें दस युक्त है, इस प्रकार प्रत्यक्ष तीर्थेशकी तरह विजयको प्राप्त होता है। यहां शंका हो सकती है कि प्रत्यक्ष तीर्थंकर किस तरह तो यह न्याय है कि 'नामैकदेशे नामैकग्रहणम्' अर्थात् नामके एकदेश ग्रहण करनेसे सम्पूर्ण नाम ग्रहण होता है। अतः चन्द्रप्रभसे चन्द्रप्रभु भगवान तीर्थंकर, अजितसे अजितनाथ, ऐसे ही सुपार्श्वनाथ, धर्मनाथ, शीतलनाथ, सुव्रतनाथ, अनन्तनाथ, और श्री वर्द्धमान् महावीर अन्तिम तीर्थंकरके समान ही प्रत्यक्ष तीर्थंकर ही हैं।

साहित्य पाठको! निष्पक्षपात दृष्टिसे देखो कि श्री जैन कवियोंने किस अनुपम कवित्वशक्तिसे सौन्दर्य, अलङ्कार, पदलालित्य और अर्थगौरव किया है। इसमें वीर, शान्त रस किस खूबी से बतलाये हैं।

अब आपके सामने गद्यचिन्तामणिके कुछ अंश यहां उद्धृत करता हूं। इस गद्यग्रन्थके कर्ता कविसिंह श्रीवादीभसिंह हैं। इनका और श्री बाणकविका समय एक नहीं है, वादीभसिंह इनसे पहिले हुये हैं। क्योंकि यशस्तिलकचम्पूके व्याख्याकार श्रीश्रुतसागर मुनि हैं, उन्होंने, द्वितीय आश्वासके १२९वें श्लोक में लिखा है कि वादीभसिंह मेरे शिष्य हैं तथा वादिराज भी। ऐसा सोमदेव सूरि रचित यशस्तिलकमें लिखा है। और सोमदेवसूरि तो इनसे बहुत पहिले हुये हैं। इससे और भी इनका काल पहिले निश्चित होता है।

ये भी अपने काव्यमें राजा सत्यन्धरका वर्णन करते हैं कि—

प्रतापविनिमदवनीपालमुकुटमणिवलभीविटङ्कसञ्चरितचरणनखका-न्तिचन्द्रातपः, करतलकवलितकरालकरवालमयूखतिमिराभिसरदाह-वविजयलक्ष्मीलक्षितसौभाग्यः, क्षत्रधर्मदिनकृदुदय लघुचम्पूभारवि नम्रेन महीनिवेशे फणाचक्र फणाभृता चक्रवर्तिना जर्जरम् दिभि

दिशिनि हितविजयस्तम्भः इति, इत्यादि एतादृशो नाम सत्पन्थरो राजा।

इस गद्यमें बाणकविकी अपेक्षा वीर रस, समासभूयस्त्व, जो कि गद्यका खास गुण है, और इसीका नाम ओजगुण कहलाता है, क्योंकि "ओज समासभूयस्त्व एतद् गद्यस्य जीवितम्" अर्थात्–समासभूयस्त्व ओज गुण कहलाता है, वह गद्यमें अत्यन्त सुन्दर होता है, इस लिये इस गद्यमें विशेषतया समास भूयस्त्व, पदलालित्य दिया है।

श्रीबाणकवि अपनी कादम्बरीमें एक जगह महाश्वेता नामकी नायिकाके भावी पतिके मरणमें विलाप दिखलाते हैं। तथा महाश्वेता पतिमरणसे दुःखित हो विलाप करती है।

" हा अम्ब ! हा तात ! हा सख्य ! इति व्याहरन्ती तथा हा नाथ जीवितनिबन्धन ! आचक्ष्व मामेकाकिनीमशरणमकरुण विमुच्य यासि, ईदृशपि विलोकय, आर्त्तास्मि, भक्तास्मि, अनुरक्तास्मि, बालास्मि, अगतिकास्मि, दुःखितास्मि, अनन्यशरणास्मि मदनपरिभूतास्मि"

पाठको ! देखो कविने किस चतुरतासे वर्णन किया है, आप विचार सकते हैं कि इस गद्यमें अर्थ गौरव है ? और कोई तात्विक रस भी नहीं विशेष प्रतीत होता। पुनः हम पूछते हैं कि जब दुःखावस्था होती है तथा पतिमरणसे स्त्रीकी अत्यन्त ही हो जाती है, लेकिन बाणकवि वर्णन करते हैं कि माता पिता और सखियोंसे कर कि मैं दुःखित हूं, भक्त हूं, अनुरक्त हूं, अनाथ हूं, इत्यादि कहकर कहते हैं कि "मदनपरिभूतास्मि" अर्थात्–कामदेवसे परिपीडित हूं, देखो कि जो स्त्री पतिमरणसे दुःखित है वह ऐसा वाक्य कैसे कह सकती है कोई न कहेगा, यह केवल श्रीबाणकविकी युक्ता है।

अच्छा, अब इसीका वर्णन कविसिंह श्रीवादीभसिंहने किया है।

हा, महागुण मञ्जिज्जीव ! हा, मानसविहाराम्बहंसराजत्व ! हा मम पुण्यैः द्वा ! इति क्रोशति विलपन्ती, शोकविषमोहिताङ्गी काचिद्देवता गिरमुदाचचाम।

इन रचना शैलीको आप जान सकते हैं किस तौरसे, रससे कविने वर्णन किया है। और भी देखिये कि कहीं २ सम्भव भी है कि ६ इनमें इसका सहायता भी हो। जैसे–

" वत्स ! चलनिपुनपुरोधसमपि ... चिन्तकुर्वति ... मदधीनपाटित्ये मयाति पश्यामि तदपि कल्याणमय ... दुर्दमनीयो यौवनजन्मा मोहमहोदधि.,

निष्पादनदक्षो लक्ष्मीकटाक्षविक्षेपविसर्पी दर्पज्वरः । मन्दीकृतमणिमन्त्रौषधिप्रभावः प्रभावनाटकनटनसूत्रधारः स्मयापस्मार इति किंचिदिह शिक्षयसे । "
(गद्यचिंतामणि)

बस, ऐसा ही निरकुश वर्णन शब्द परिवर्तन कर बाणकविने किया है। जैसे—

"तात चन्द्रापीड ! विदितवेदितव्यास्याधीतसर्वशास्त्रस्यते नाल्पमुपदेष्टव्यमस्ति, केवलं च निसर्गत एव भानुभेद्यमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्, दारुणो लक्ष्मीमदोऽत्यन्ततीव्रोदर्पदाहज्वरोष्मा, अमन्त्रगम्यो विषमो विषय विषस्वादमोह इत्यतो विस्तरेणाभिधीयसे । "
(कादम्बरी)

और भी बहुतसी जगह मिलान पाया जाता है। गद्यचिं तामणिमें शान्त रस बतलाने के लिये, विषय वासनादि छुडानेके लिये शिक्षा दी है कि—

" अभिनवविग्रहलीलावनं यौवन, अनङ्गभुजङ्गरसातलं सौन्दर्यं, स्वैरविहारशैलूषवृत्तस्थानमैश्वर्यं, पूज्य पूजाविलङ्घनरुधिमजननी महासत्वता च प्रत्येकमपि भवति जननामनर्थाय, चतुर्णां पुनरेतेषामेकत्रसन्निपातः सद्म सर्वानर्थनामित्यर्थेऽस्मिन् कः सशीति"।
(गद्यचिं तामणि)

इसी भावको लेकर बाणकविने लिखा है कि—

" गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्व चेति महतीयमनर्थपरम्परा, सर्वतः नामेकैकमप्येषायतनम्, किमुत समवायैः "
(कादम्बरी)

काव्यप्रेमियो ! यदि फिर भी निष्पक्षपात दृष्टि इन गद्योंपर डालेंगे तो अवश्य स्फुट रीतिसे मालूम हो जायगा कि कादम्बरीकी रचना गद्यचिन्तामणिसे मिलती है, और संभव है कि इन्होंने कुछ अंश लेकर वर्णन किया हो, और यह भी बात है कि इनका ऐसा करने पर भी वादीभसिंहकी रचना और पदलालित्य, सौन्दर्यसे कहीं अधिक न्यून है।

अब हम कादम्बरीकी विशेष आलोचना, मिलान करके एक बातका सदर्श और करा देना उचित समझते हैं, वह यह है कि—इसमें अर्थकाठिन्य, शब्दकाठिन्य कहीं २ इतना है कि प्रकृत कथाभाग भी स्मरण रखना मुश्किल पड़ जाता है, और सरलता भी इतनी है कि हितोपदेशादिकी तरह गद्य कह डालते हैं—अर्थकाठिन्यका एक उदाहरण देते हैं कि—

" कुमुदिन्यपि दिनकरकरानुरागिणी भवति " इत्यादि—

अर्थात्—कुमुदिनी चन्द्रमाकी किरणोंसे अनुरागिणी होती है, ये यहां।र प्रकृत अर्थ

है, परन्तु दिनकर शब्द से सूर्यका अर्थ द्योतक होता है, चन्द्रमा नहीं, सो यहांपर चन्द्रमा यह अर्थ लगाया है, और इस अर्थके लिये बडी खींचतान की है, अच्छा मान भी लिया जाय किसी तरह यह अर्थ तो यहां अप्रसिद्ध नामका दोष आता है, जो काव्यके सारे महत्वको घटा देता है। खैर, इसे विद्वान् संकेतमात्र ही समझकर श्री बाणकविकी विद्वत्ताकी इयत्ताका परिचय मान लेंगे। क्योंकि विद्वानोंको संकेतमात्र काफी होता है। यह मेरा ही मत नहीं है बल्कि इस विषयमें अच्छे २ मनुष्योंने हस्तक्षेप किया है। जैसे प्रोफेसर वेबर बाणकविकी गद्यपर अपने विचार प्रकट करते हैं कि—

"Bana's prose is an Indian wood when all progress is rendered impossible by the under-growth, until the traveller cuts out a path for himself and where even then he has to reckon with malicious wild beasts in the shape of unknown words affright him"

अर्थात् जैसे हिन्दुस्तानके जङ्गलमें उन सघनवृक्षोंके बीचमें पैदा हुई छोटी २ झाडियोंके मारे राहगीर गमन करनेमें असाध्य हो जाता है, और किसी तरह मार्ग निकाल भी लेता है तो दुष्ट भयंकर जन्तुओंसे पिंड छुडाना पड़ता है, उसी तरह बाणकविके गद्यमें अप्रसिद्ध शब्दोंके मारे उपयोगी भाग समझना मुश्किल पड़जाता है, और यदि वह मेहनतसे अर्थ निकाल भी लेता है तो अप्रसिद्ध और कठिन शब्दोंके समझनेके लिये पृथक् कष्ट उठाना पड़ता है। वास्तवमें यह बात अक्षरशः सत्य है।

अब श्री कालिदास कविके विषयमें इतना कहना ठीक होगा कि इनका समय सर्व सम्मत (६३४) है। इनके जीवनचरित्रसे आबालवृद्ध परिचित ही हैं। यहांतक कि कालिदासको कविकुलगुरु कहते ही हैं, कोई २ तो ऐसा कहते हैं कि यदि कालिदास केवल "मेघदूत" नामक काव्य बनाते तो भी इनका यश समाजमें चिरस्थायी रहता, लेकिन इन्होंने, "अस्ति कश्चित् वाग्विशेष" इस वाक्यपर ३ काव्य बनाडाले, जो आजकल बहुत ही प्रसिद्ध हैं। जिनके नाम, रघुवंश, मेघदूत, कुमारसम्भव हैं। लेकिन नहीं कह सकते कि इन्होंने भी वैसाही काट छांट किया हो, किन्तु इस बातसे अवश्य प्रतीत होता है कि सम्भवतया न[illegible] नहीं किया हो, क्योंकि राजा भोजराजके स्वर्गारोहणकी बात सुनकर दुःखित कालिदासजीने ये कहा था कि—

"अद्यधारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिता खण्डिता सर्वे भोजराज दिवं गते ॥

अर्थात्—राजा भोजके स्वर्ग जानेपर, पृथ्वी निराधार, सरस्वती आलम्बनरहित, पण्डित खण्डित, ये सब बातें एक साथ होगई।

श्रीवादीभसिंहने अपनी गद्यमें लिखा ही है कि—"अथ निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती" इत्यादि, कविवर एक जगह और दण्डकारण्यका वर्णन करते हैं कि—

"वासरावसानसंक्षिप्तनीवाराङ्गणनिषादिमृगगणनिर्वर्तितो रोमन्थम्, आलवालम्भः पानलम्पटविहगपेटकविश्वासकृते सेकान्तविसृष्टवृक्षमूलमुनिकन्यकाविवृतकारुण्यम् दण्डकारण्यम्, इति, (गद्यचिन्तामणि)

यही नकल कर कालिदासने अपने प्रसिद्ध रघुवंशमें श्लोकमय निबद्ध किया है कि—

"सेकान्ते मुनिकन्याभिः कारुण्योज्झतवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपात्ययसंक्षिप्त नीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गणभूमिषु ॥

अर्थात्—मुनि कन्याओंने सेचन करनेके अनन्तर क्यारियोंमें जलपीनेवाले पक्षियोंके विश्वासके लिये करुणासे वृक्षोंको छोड़ दिया है । और धूपके नष्ट हो जानेसे इकट्ठी की हुई धान्य विशेष सहित झोंपड़ियोंकी भूमिपर बैठनेवाले मृगरोमन्थ अर्थात् चर्वणका चर्वण कर रहे हैं ।

यही अर्थ वादीभसिंहकी गद्यका है ।

अब हम आपका ध्यान श्री १०८ श्रीमज्जिनसेनाचार्यकी तरफ दिलाते हैं । ये हमारे पूज्य आचार्य राजा अमोघवर्षके समयमें हुये थ । और उसी समय कवि कालिदासने मेघदूतको बनाया, और समय आमकठकी अपेक्षा बहुत प्रतिष्ठित माना गया था, लेकिन भगवज्जिनसेनाचार्यजीने चोरित बतलाया, इसीपर "पार्श्वाभ्युदय" नामक काव्यका प्रणयन किया। जो काव्य, शृंगाररससे पूर्ण था, वही वैराग्य रसमय बना दिया, तथा वैराग्यरसका सचार किया, तथा इसी प्रकार जैनसाहित्य, साहित्य विषयिक वर्णन करने पर भी अनमें घोतरस, मध्यमें उसका वर्णन करते हैं । इस पार्श्वाभ्युदयके अवलोकनसे जैनकाव्योंकी महत्ता और भी प्रकट होती है ।

आचार्यजी आदिपुराणादि बहुत काव्य ग्रन्थोंको बना गये हैं जिनके समक्ष कोई काव्य प्रायः इनका नहीं पाया जाता, अथवा जिन्होंने बनाया भी है वह इनसे सहायता लिये बिना न रहे हों । जैसे कालिदास कवि रघुवंशमें लिखते हैं कि—

"अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥"

अर्थात्—सूर्यवंशके पूर्व कवियोंने वाङ्मयरूप किवाड खोल दिये हैं, अब छिद्र की हुई मणिमें डोरेकी तरह मेरी भी गति हो जायगी ।

भगवज्जिनसेनाचार्य कहते हैं—

" पुराणकविभिः क्षुण्णे कथामार्गेऽस्ति मे गतिः ॥ "

अर्थात्—पूर्व कवियोंसे शुद्ध किये कथा मार्गमें मेरी गति हो जायगी।

श्रीजिनसेनाचार्य—

" क गम्भीरः पुराणाब्धि क मद्बोध दुर्विधः।

सोऽहं महोदधिं दोर्भ्यां तितीर्षु यामि हास्यताम्।

अर्थात्—गम्भीर पुराण समुद्र कहां, और मुझ सरीखे दुर्बोध मन कहां, यह मैं बाहु ओंसे बडे भारी समुद्रको तैरनेकी इच्छा करने वाला हास्यताको प्राप्त होऊंगा।

श्री कालिदास—

क सूर्यप्रभवोवंशः क चाल्पविषया मतिः।

तितीर्षु दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥

अर्थात्—सूर्यवंश कहां, और अल्पविषयी बुद्धि कहां, लेकिन सूर्यवंशका वर्णन करना मानो मोहसे दुस्तर समुद्रको डुगी नौकासे पार करना है।

कालिदास कुमारसम्भव नामक काव्यमें रचना करते हैं कि—

असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।

कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परंसाथवयःप्रपेदे॥

महाकवि हरिश्चन्द्र अपने धर्मशर्माभ्युदयमें कल्पना करते हैं कि—

असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टे नष्ट क मे यौवनरत्नमेतत्।

इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति॥

अर्थात्—अङ्गयष्टिका बिना प्रयत्न सिद्ध यौवनरूपी रत्न कहां नष्ट हो गया इसी लिये ही क्या नम्र काय होकर वृद्ध मनुष्य देखता हुआ पृथ्वीपर घूमता है।

अब यहां पर विचारनेकी बात है कि "असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टे" इतना पूरा पद कालिदासने कुमारसम्भवमें जोडकर श्लोक तैयार किया है, तथापि, हरिश्चन्द्रकविकी रचना, सो दूर्थ, अक्षरा, उपेक्षामें कम ही है।

श्री माघकविको भी सारा संसार जानता है, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध ही है कि "काव्येषु माघ कविषु कालिदास" अर्थात् काव्योंमें माघ काव्य, और कवियोंमें कालिदास प्रसिद्ध हैं। आपको कालिदासके बारेमें पूर्ण परिचय मिल ही गया है, माघकविकी इस प्रसिद्धिके साथ २ यह भी बात है कि माघकविके श्लोक अग्निसात्सातकार बनाकर लिखे गये हैं, तथा जो दूषित हों श्लोक हों वे इस अग्निमें जल जावें, ऐसी कविकी प्रतिज्ञा थी, अब हम नहीं कह सकते यह बात कहां तक सच है, क्योंकि इतने श्लोक दूषित हैं कि

साधारण व्याकरण जानने वाला जान सकता है। जैसे—

"समूच्छेदुच्छ्रङ्खलधांवनिस्वनः स्वनुप्रयातेपटहस्य शार्ङ्गिणि।
सत्पानि भिन्नेनितरां महान्त्यपि व्ययां द्वयेषांमपिमेदिनीभृताम्॥
(शिशुपालवध)

इस श्लोकमें "द्वयेषा" यह शब्द निर्लक्षण दोषसे दूषित है, द्वयेषाम् को द्वयानाम् होना चाहिये क्योंकि व्याकरण (लक्षण) शास्त्रमें द्वयेषा न बनकर द्वयानाम् रूप बनता है। अतः द्वयाना सुलक्षण है, और द्वयेषा निर्लक्षण है, और भी समझना चाहिये। जैसे—

ततो मधुस्तत्प्रकैटयाक्षिप, तयो घनात्ययागमसमदः मुदा"

अर्थात्—श्रीकृष्णपरमात्माके हृदयमें शरद ऋतुके आनेकी खुशी (हर्ष) समाई नहीं। जिनसेनाचार्य—

वसुन्धरा महादेवी पुत्रकल्याणसम्पदा।
तथा प्रमोद पूर्णाङ्गी न स्वाङ्गे नन्वमात्तदा॥

अर्थात्—वसुन्धरादेवी अपने पुत्र कल्याणकी सम्पत्तिसे उत्पन्न हुए आनन्दसे फूली नहीं समाई। यह कल्पना आचार्यमीकी है, इससे सिद्ध है जैन काव्योंमें ही सरस है।

इसके अनन्तर अलङ्कार और वर्णोंकी विशेषता बतलाते हैं—

यह चित्रालङ्कार है, इसका लक्षण, बहुत क्रियायें, हितिपादमें यमक, अनाक्षर अवर्ण अवर्णतीन्दर हों तथा सर्वत पाद समान हों। जैसे—

श्लोक-पारावाररवारापारा क्षमाक्षक्षमाक्षरा।
वामानाममनामावारक्ष मर्द्धमक्षर॥

अर्थात् हे जिननाथ, समुद्रध्वनिसदृश वागीश ! हे सर्वज्ञ ! हे पापनाशक ! हे भद्र ! तुम्हारी क्षमा अपार है, अतः हमको प्रसन्न करो, शोभित करो, रक्षा करो।

यह श्लोक वैराग्य और शान्त रससे भरा हुआ है।

श्री माघकविका सर्वतोभद्र इस प्रकार है कि—

"सकारनानारकासा, कायसाददसायका।
रसहवाराहवासार, नादवाददवादना॥

इसका भी चित्र बनाया जासकता है। इसका अर्थ है—कि सोत्साह नाना प्रकारसे इन्दु समूहोंके नाशक। शरीर तथा गति और बाणोंके शब्दों और वाह श्रेष्ठोंके नादसे बाणोंकी ध्वनि हो रही है। इसमें कविने छन्दकी विशेषता बताई है। परन्तु इसमें इतनी त्रुटि है कि इसमें क्रियाओंकी विशेषता है। रस भी साधारण है।

पूज्यवर जिनसेनाचार्यने अलङ्कारचिन्तामणिमें बहुत ही अच्छी तरह लगाये हैं, देखिये—

छत्र बंध।

शीतल विदितार्थोघ शीतीभूत स्तुमोऽनघम्।
सुविदा परमानन्द सदितानङ्ग दुर्मदम्॥

अर्थात् सर्व पदार्थज्ञ, शीतीभूत, पाप रहित, विद्वानोंको आनन्ददायि कामदेवको ‹ करनेवाले शीतलनाथ भगवानको नमस्कार करते हैं।

हारबन्ध।

चन्द्रातप च सततप्रभपूतलाभम्।
भद्र दया सुखद मगल धाम जालम्॥
वन्दामहे वरमनन्तजयान याजम्।
त्वा वीरदेव सुरसचय शास शास्त्रम्।

अर्थ, स्पष्ट है यहां पर वीर देवकी स्तुति सारस्वती कण्ठाभरण आदिमें नहीं पाया जाता है।

सर्पबन्ध–

"पल्लवमहिता"

अर्थात् पल्लव पत्ता किसको प्राप्त हुआ, अथवा चार पुरुषोंसे पूजित की गई।

इत्यादि नाना प्रकारके बन्ध होते हैं मुरज, गोमूत्रिका, अष्टदल, षोडशदलपद्म आदि समझना चाहिये, इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि ये बन्ध जैनेतर प्रसिद्ध सारस्वती कण्ठाभरणादिमें नहीं पाये जाते हैं। यह सक्षेपसे बतला दिया गया है, अगर अन्य काव्योंमें हों भी तो इसके जैसे पदलालित्य आदिमें कम हैं। पाठक! लेख बढ जानेके भयसे यह विषय छोड कर इसी काव्यका अङ्ग समस्यापूर्ति है, इस समस्याकी समस्यापूर्ति किन कवि योंने अच्छी की है तो हम कहेंगे, कि श्री भगज्जिनसेनाचार्यकी हुई समस्यापूर्तियां उनका प्रमाण एक पार्श्वाभ्युदयका अवतरण है। इनके मुकाबिलेका कोई भी कवि इनके सम्प्रदायमें नहीं हुआ है। यह कविराजशक्तिकी महिमा है कि शृंगारमय काव्यको शान्तरसमय करदेना।

श्री कविवरकालिदास और कविसिंह श्रीवादीभसिंह–

"क्षत्रचूडामणि" नामक काव्यको प्राय सभी जानते हैं। अत ध्यान दें कि यह क्या है? कालिदास–

"प्रजाना विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासा केवल जन्महेतवः॥
रात्रिंदिव विभागेषु यदादिष्ट महीक्षिताम्।
तत्सिषपे नियोगेन सविकल्प पराङ्मुखः॥
सवेला वप्रवलया परिखीकृत सागराम्।
अनन्यशासनामुर्वी शशासैकमहीमिव॥ (रघुवश)

वादीभसिंह—

१–सुखदुःखे प्रजाधीने तदाभूतां प्रजापते ।
प्रजानां जन्मवर्ज्यं हि सर्वत्र पितरो नृपाः ॥

२–रात्रिंदिवविभागेषु नियतो नियतिं व्यधात् ।
कालातिपातमात्रेण कर्तव्यं हि विनश्यति ॥

३–प्रबुद्धेऽस्मिन् भुवं कृत्स्नां रक्षत्येकपुरीमिव ।
राजन्वती भूरासीदन्वर्थं रत्नसूरपि ॥ (क्षत्रचूडामणि)

महानुभाव ! इन श्लोकोंका अर्थ क्रमशः नीचे लिखे प्रमाण समझें ।

१–प्रजाधीशकी प्रजा आधीन होनेसे सुख दुःख प्रजापतिको होते हैं । क्योंकि राजा जन्मको छोड़कर माता पिता होते हैं ।

२–राजाने रात दिनका टाइमटेबिल (समय विभाग) बना लिया, क्योंकि काल व्यर्थ चले जानेसे कर्तव्य नष्ट होजाता है ।

३–राजाके प्रबोधित होने पर राजा समग्र पृथ्वीको एक नगरीकी तरह रक्षा करता है । और रत्नसू पृथ्वी राजासहित यथार्थ नामवाली होगई ।

आप उक्त श्लोकोंसे मिलान कर सकते हैं कि वादीभसिंह कृत क्षत्रचूडामणिके श्लोकोंमें कितनी सरलता है, और प्रत्येक श्लोकमें नीति वाक्यामृत भर दिया है । " कि कालातिपातमात्रेण कर्तव्य हि विनश्यति " ठीक उर्दू शायरका कथन है कि " गया वक्त हाथ आता नहीं, सदा दौर दौरे दिखाता नहीं " इत्यादि नीतिके उपदेशके साथ साथ स्पष्टतर शांत रसका–वैराग्यका खूब ही वर्णन किया है, धर्मशास्त्रका उपदेश दिया है । तथा पदलालित्य, समुचित पद, हृदयग्राही दृष्टांत, हृदय–रोचकता, अनेक लोकोक्ति, मितोक्ति आदि गुणोंसे मिश्रित यह अद्वितीय काव्य है इसका प्रचार खूब करना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त हमें इसका गौरव होना चाहिये कि हमारे यहां ऐसे २ महाकाव्य रहे हैं, जिनके सदृश अभी कहीं नहीं पाये जाते, और जिनके श्लोकोंको ही देखकर अच्छे २ पण्डित दांतों तले अंगुली दबाते हैं । जैसे—

" क ख गो घ ङ च च्छौं जो झा ञ ट ठ ड ढा ण तु ।
था द धान्य प फ बा भा मा या रा ल व शां ष स्र " ॥

इसका अर्थ अच्छे २ विद्वानोंने नहीं करपाया, इसका सादृश्य हमें कहीं मिलता ही नहीं, और नहीं भी होगा । बत्तीस व्यञ्जनोंका क्रमशः श्लोक बनाना किसीकी शक्ति होगी । इसमें विद्वान् अनुमान ही लगालें ।

चित्रालङ्कारके श्लोक के देता और है। जैसे—

" ककाकुकङ्केकाङ्केकिकोकैककुः ककः।
अकुकोकः काकंकाकनकाकुकुककः ककु" ॥

तात्पर्य अत्र—यहा पर कवि समुद्रका स्वाभाविक वर्णन करते हैं कि—जलचर, मयूर, चक्रवाक, तथा मछके स्वर्गोपम रव, और विजुली निवास स्थानभूत समुद्र है।

" ततोऽतितातु तेऽतीतः तेतुतोती तितोतृत.।
ततोऽतातितौ तौतै तत तातै ततो ततः" ॥

भाव यह—विशिष्ट पूजाके योग्य। इसकीय ज्ञानवृद्धिक हेतु, ज्ञानावरणादिकोंके नाशक। अपरिग्रहसे महार। ज्ञानवृद्धि प्राप्त। हे अलोकेश्वर तुम्हारा ज्ञान विस्तीर्ण है। इस प्रकार चित्रक एकाक्षरी, दो अक्षरी भेद होते हैं।

अब मैं आप लोगोंका समय ज्यादा न लेकर, नैषधीय चरित्र, और धर्मशर्माभ्युदय से विधान करके लेख समाप्त करूंगा।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यक कर्ता श्री हरिश्चन्द्र कवि हैं। बाणभट्टने ... हर्ष चरितमें इनको प्रारम्भमें स्मरण किया किया है।

" पदबन्धोज्ज्वलोहारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥

इस प्रकार नि कलोंमें अनेक कवियोंने भी इनकी ...
इनकी कविताओं सुन्न, कल्पना उत्तम बहुत गम्भीर है, पदलालित्य ... कर भर दिया है। यथा—राजा महासेनकी विद्या चतुराईको कवि ...

" तत श्रुताम्भोनिधिपारदृश्वन' निशङ्कमाने
विशेष पाठाय विमृश्य पुस्तकं करान्न मुञ्चति"

अर्थ—शास्त्र समुद्रक पारगामी राजासे पराभवकी शङ्का विशेषपाठ, याद करनेके लिये अब भी पुस्तकको नहीं छोडती है

भाव—भारतीके हाथमें पुस्तक है, इसीपर राजा विद्या ... है, अत मुझे शास्त्रार्थमें न हरावे ... अथवा, राजा चौदह विद्याओंमें अत्यन्त निपुण है, इसका ...

श्री हर्ष कवि—
ये कवि श्रीहरि पण्डितके सुपुत्र थे, और ...

और गंभी (इन सबका) इनका कोई समय निश्चित नहीं हुआ है। परन्तु राष्ट्र सं० ११७४से कुछ पहिले इस काव्यका निर्माण हुआ है, क्योंकि इसमें जाना जाता है-कि बनारसमें ५७० राष्ट्र सं० में राजा गोविंदचन्द्र राज्य करते थे पश्चात् विजयचद्र तत्पश्चात् जयन्तचद्र राजा हुये, और इनकी सभामें २ होंने प्रतिष्ठा पाई है। तथा इनकी प्रेरणासे हर्ष कविने यह नैषधीय चरित्र बनाया है। अब जय तनद्रके वास्ते इनका भी यही काल कुछ आगे पीछे हों।

हर्षकवि राजा नलकी विद्या बुद्धि वर्णन करते हैं—

" अधीति बोधाचरणप्रचारणैः दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान्कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥

अर्थात्–राजा नलने १४ विद्याओंमें अध्ययन, अर्थज्ञान, अनुष्ठान, अध्यापन, इस प्रकार चार अवस्था करते हुये चतुर्दश त्व प्राप्त किस तरह किया यह मैं नहीं जानता, यह श्लोक सामान्यार्थ है। हम यहां पूछते हैं १४ विद्याओंमें चतुर्दशत्व क्या प्राप्त किया विद्या तो १४ होती ही हैं, उससे नया अथवा, यह कविका पिष्टपेषण है। और यदि चतस्रावस्थात्वम सिद्ध करोगे तो भी ठीक नहीं क्योंकि चतुर्दशत्वका वह स्वय ज्ञाता है। दूसरी बात ये है कि क्षत्रियोंको अध्यापनका अधिकार नहीं है यह मनुस्मृति वचन है, लेकिन क्षत्रिय राजा नल अध्यापन करता यह बात शास्त्र विरुद्ध है। अच्छा और पद्यलालित्य, उत्प्रेक्षा आदि सज्जन जान सकते है कि किसमें विशेषता है।

कवि हरिश्चन्द्र—

" कृतौ न चेत्तेन विरञ्चिना सुधानिधानकुम्भौ सुदृशः पयोधरौ ।
तदङ्गलग्नोऽपि तदा निगद्यतां स्मरः परासुः कथमाशु जीवितः ॥

अर्थात्–ब्रह्मा सुनयनीके स्तनोंको अमृत रसोंके दो घड़े बनाये हैं, यदि न बनाये होते तो उसके अङ्गमें लगा हुआ मृतकामदेव किस तरह जीवित होता, यह बतलाइये। तात्पर्य यह है कि महादेवने कामदेवको भस्म कर दिया था, अत मर गया और मरा हुआ अमृतसे जीवित हो जाता है, यही उत्प्रेक्षा की है कि रानीके स्तन अमृत कलश हैं, और उससे कामदेव जीवित हो गया है।

श्री हर्ष—

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम् ।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥

अर्थात्–रानी दमयतीके कुच (स्तन) कांतिझरसे अगाधको प्राप्त दमयतीके शरीरमें स्मर और यौवनके तैराके लिये दो घड़े हैं।

महानुभाव ! विचारें कि कैसी मही कल्पना है कि लेरनेके घड़े, और वा अमृतकलशकी उपमादी है। तथा मृतको अमृत रस देकर सदा जीवित ही कर दिया है

कवि हरिश्चन्द्र—

" कपोलहेतोः खलु लोलचक्षुषो विधिः व्यधात् पूर्णसुधाकरं द्विधा
विलोकतामस्य तथा हि लाञ्छनच्छलेन पश्चात् कृतसीवनव्रणम् ॥
(धर्मशर्मा०)

अर्थात्—ब्रह्माने रानीके कपोलमंडल बनानेके लिये पूर्ण चन्द्रमाके दो टुकड़े क दिये, यदि नहीं तो देखिये, कि कलङ्कके व्याजसे टुकडे कर पीछे सीवनका व्रण ही मालू होता है, चन्द्रकलङ्कपर उत्प्रेक्षा की है ।

हर्ष कवि—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्ती वदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृत गम्भीर खनी खनीलिमं ॥ (नैषध)

अर्थात्—ब्रह्माने दमयन्तीका मुख बनानेके लिये हृतसारकी तरह चन्द्रमा, गहरे गड्ढे व आकाशकी नीलिमासे युक्त, अथवा मध्यमें किये बिलकी तरह दिखाई देता है। अर्थात्—दमयन्तीका मुख स्वच्छ है । ॰

कवि हरिश्चन्द्र—ॐ शब्दकी कल्पना—

" इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टेः कलशार्पणोत्सुकः ।
लिलेख यत्नें तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति मंगलाक्षरम् ॥
(धर्मशर्मा)

अर्थात्—सृष्टिकी रचनाके बाद कलश अर्पण करनेमें उत्सुक ब्रह्माने अदृष्टिगोचर रानीको बनाकर रानीके मुख गत तिलक चिह्नके मध्यमें भृकुटीके बहानेसे ॐ यह मङ्गलाक्षर लिख दिया । अर्थात भृकुटीका आकार प्राय ॐ सरीखा होता है । प्रकारान्तरसे—

उदीरिते श्रीरतिकीर्त्तिकान्तिभिः अर्थाम एतानिति मौनवान्विधिः ।
लिलेख तस्यां तिलकाङ्कमध्ययोः भ्रुवोर्मिषादिति सम्मतोत्तरम् ॥

अर्थात्—लक्ष्मी, रति, कीर्ति, कांति, आदि गुणोंने ब्रह्माके पास जाकर अर्जी (Application) की, इसको सुनकर मौनी ब्रह्माने तिलकाङ्क मध्यमें भृकुटीके बहानेसे ॐ यह सम्मतोत्तर लिख दिया । अर्थात् ॐ स्वीकारार्थक है । पाठक ! इत्यादि उपर्युक्त दृष्टान्तोंसे जान सकते हैं कि, पदलालित्य, ओज, सौंदर्य जैन काव्योंमें विशेष है—। इस श्लोककी कल्पना विचित्र है । ऐसी कल्पना अच्छे २ कवियोंमें नहीं की, है ये

अनुष्टुप ही श्लोक हैं। ऐसे ही द्विसन्धान, चतुर्विंशति सन्धान भक्तामर, इत्यादि बहुतसे काव्य हैं जो अनुपम सत्तामें ही गणित हैं। अब इस कथनसे मालूम होता है, और आप, इतनेसे जान सकते हैं कि जैन काव्योंमें ही महत्त्व है। क्योंकि सचेत विद्वानोंको काफी होता है, या एक चावलसे तमाम हाडीका पता चल जाता है, उसी प्रकार यहांपर भी जान लें। और यह भी जान लें कि जैन काव्योंमें, पदलालित्य, सुन्दरता, रोचकता, अर्थगौरव कितना है।

अब मैं आपका ज्यादा समय न लेकर उपसंहार कर, लेख बहुत बढ जानेके भयसे दो एक मार्मकी बातें बतला कर समाप्त करुगा।

प्रिय साहित्य रसिकजन !

यथार्थमें काव्यसे (साहित्य) से देशका उद्धार होता है। साहित्य सौरभसे देश विशेष उन्नतिके शिखर स्थायी होते हैं। मानव शक्तिका सचार होता है। और इससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसलिये इसका प्रचार करना परमावश्यक है, क्योंकि इससे उभयलोकमें सुख शान्ति मिले—इसलोकमें निश्चित सुखकी प्राप्ति होती ही है कि " काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् " अर्थात् काव्यशास्त्रके विनोदसे धीमान् पुरुषोंका काल व्यतीत होता है। साथमें जैन काव्योंमें इतनी गम्भीरता एवं महत्त्व है कि साहित्यमें सम्पूर्ण अद्भुत, अलङ्कार, रस, सौन्दर्य, क्रीडा, नायक, नायिका, रति, हास्य, राग आदिका खूब अच्छी तरह वर्णन करके, अन्तमें शांतरसका वर्णन किया है। ऐसा अन्य कालिदासादि कृत काव्योंमें नहीं पाया जाता। दृष्टान्तके लिये आप " मेघदूत " को लीजिये। इसका वर्णन आद्योपान्त शृंगार रसमय है। विद्यार्थी, या अन्य साधारण जन इसे पढकर मार्गच्युत होसकते हैं। तथा उपादेय छोड़ हेय कार्योंमें फंस जाते हैं। जिससे उनको नाना भवोंमें नाना दुःख उठाना पड़ते हैं, इसी प्रकार और भी जैसे गीतगोविन्द आदिकोंमें शृंगार हास्यादिकोंका ही वर्णन किया है। तथा शान्त रसका नाम मात्र भी नहीं लिया है। इससे पढनवाले छात्रोंको हानि उठानी पड़ती है। छोटी अवस्थामें इन काव्योंकी शिक्षा लाभदायक नहीं होसकती। परन्तु जैन कार्योंमें ऐसा वर्णन नहीं है। हमारे कवीश्वर और कवि आचार्योंने भिन्न २ अवस्थामें वर्णन किया है, तथा शांतरसका तो जैन काव्योंमें आदि, मध्य, अन्तमें खूब ही विवेचन किया है, जिससे शृङ्गारादिकी तरफ आत्मा नहीं झुकती, और न व्यर्थकी बातोंमें चित्त प्रवश करता है। अन्तमें शांत रसमें ही आत्मा मग्न होजाती है। इस आत्माको हितकारी धार्मिक शिक्षासे आत्मशुद्धि, नियम, जप, तप, परीषह सहनकी शक्ति समुत्पन्न होजाती है, और यह विचार उत्पन्न होने लगते हैं कि—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
मणौ वा लोष्ठे वा बलवतिरिपौ वा सुहृदि वा॥
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशः यान्ति दिवसाः।
कदा पुण्येऽरण्ये जिन जिनेति प्रलपन्॥ १॥

अर्थात्–सर्पमें, हारमें, कुसुम शय्यामें, पत्थरमें, मणिमें, लोष्ठमें अथवा, बलवान शत्रुमें या मित्रमें, तृणमें, स्त्रीसमूहमें समदृष्टिसे युक्त मेरे दिन उस पुण्य आरण्य (वन) में हे जिनेन्द्र! हे जिनेन्द्र! या णमोकार मंत्र गाते हुए कब व्यतीत होंगे।

इसी प्रकार विचार करते हुये काव्य कारक रत्नोंसे शान्तरस आस्वादन करते हुये, अभिलषित पदार्थ–ध्येय की प्राप्ति होजाती है। बस, यही अन्तिम अवस्थामें प्राप्त होकर, आत्मा अनन्तदर्शन और शक्ति प्राप्त कर अनन्तज्ञानसे शान्त रसका आस्वादन कर अनन्त सुखमें सदाके लिये लीन होजाती है। बस यही मोक्ष है, और इन्हीं काव्यरत्न कारणोंसे उसकी प्राप्ति होती है। इसलिये काव्यरत्नको प्राप्त कर उसकी प्रभा कान्तिमय किरणमें काव्यकुसुमके अखिल कमलोंको कुसुमित–प्रफुल्लित कर, उन काव्यकुसुम कमलोंकी आमोद गोदमें आमोद प्रमोदसे प्रमुदित हों, और सदा चिरस्थायी प्रमोदमें प्रमुदित आत्मानुभव करें।

इति, शुभं भूयात्, शुभं भूयात्, शुभं भूयात्।

विनीत–

सतीशचन्द्र गुप्त, वि० स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी।

जैन काव्योंका महत्त्व।

(जैन साहित्य सभा-लखनऊका लेख नं० ६)

(लेखक-पं० अजितकुमार शास्त्री-चम्बई।)

अज्ञानतमको मेटनेमें उदित-भानु समान हैं।
कर्म-पर्वत चूरनेको इन्द्र सम बलवान हैं॥
विपरीत वादी सबने जिनसे पराजय ही लही।
हे! अजितनाथ जिनेश कीजो ज्ञान परिपूरण मही॥

मान्यवर साक्षरसन्दोह!

यद्यपि नाना पदार्थमालासे परिभूषित इस संसाररूपी विशाल प्रासादको योगीश्वरोंने साररहित बतलाया है किन्तु आश्चर्यके साथ कहना पड़ेगा कि इसी मनोहर मंदिरमें वे रमणीय वस्तुएं विद्यमान हैं जिनकी सौन्दर्यधाराका अवगाहन करके मनुष्य अपूर्व वैषयिक प्रफुल्लताको प्राप्त कर लेते हैं। अतएव उस समय ऐसा अनुमान होता है कि शायद यह अनुपम आल्हाददायिनी सुरभि उन ऋषीश्वरोंसे दूरदेशिनी ही रही होगी। अन्यथा उनका संसारको निःसार कहना नितान्त असंभव हो जाता। प्रत्युत संसारको सार परिपूरित सहर्ष स्वीकारकर लेते। अस्तु।

संसारके विस्तृत मैदानमें यद्यपि मानवीय चित्तके आकर्षक तथा मनोल्हादक अनेक विषय विद्यमान हैं जिनमें न्याय व्याकरण सरीखे शुष्क विषयोंको भी स्थान दिया गया है। इन सभी विषयोंमें साहित्य विषय सर्वोत्तम है। क्योंकि मानसिक ग्लानिको हटाकर उसमें नवीन आमोदकारी चमत्कारको जन्म देनेवाला साहित्य ही है। इसी साहित्य रूपी उपवनके सुन्दर पुष्पोंका सौरभ जिन व्यक्तियोंने भ्रमर बनकर अच्छी तरह ग्रहण किया है वे व्यक्ति यह नहीं समझते हैं कि हृदयका आल्हाददायी तथा विचित्र नवीन भावोंका प्रदाता अन्य पदार्थ भी संसारमें कहीं विद्यमान है। उनको स्वर्गीय सुख साहित्यके सन्मुख तृणतुल्य मालूम होता है। सारांश यही है कि मनोवनमें पर्यटन करनेके लिये साहित्यकी अनिवार्य आवश्यकता है क्योंकि साहित्य विषयसे शून्य व्यक्ति पशु होता है। नीतिकार भी यही पुष्ट करते हैं। विशेष कहना व्यर्थ है। साहित्य विषयका अनिन्द्य वैभव वचनातीत है। अस्तु।

आज हमको जैन साहित्यकी ओर झुककर उसका पदस्थ निश्चय करना है। अर्थात् हमको यह बात जाननी है कि सुरभिशालिनी साहित्य पुष्पवाटिकामें जैन साहित्य कैसे वृक्षका रूप धारण किये उपस्थित है? सिद्धांत, न्याय, व्याकरणादि विषयोंके समान यह तरुवर सर्वोच्च है क्या? अथवा निम्नश्रेणीमें सम्मिलित है? ऐसा विचार करनेके प्रथम ही यह विचार लेना श्रेयस्कर होगा कि 'साहित्य' शब्दका वाच्य क्या है?।

साहित्यका लक्षण साहित्यकारोंने यही किया है कि —

'चमत्कृतिसमुत्पादकवाक्यविन्यासः साहित्यम्।'

अर्थात् हृदयको अपूर्व चमत्कार देनेवाली शब्द रचना ही साहित्य है ऐसा ही लक्षण ग्रन्थान्तरोंसे भी उपलब्ध होता है। उसमें अंतर केवल शाब्दिक भिन्नतासे ही है। तात्पर्य एक ही है।

व्याकरणानुसार यदि 'साहित्य, शब्दका अर्थ देखा जाय तो यही उपलब्ध होता है कि "हितेन हेयोपादेयेन ज्ञानेन सहेति सहितं, सहितानां भावः साहित्यम्" अर्थात् हेय, उपादेयके ज्ञान करानेवाले विषय जिसमें विद्यमान हों वह साहित्य है। व्याकरणानुसार किया हुआ साहित्य शब्दका यह अर्थ भी दोषी न होगा क्योंकि साहित्यमें उपर्युक्त विषय ही बहुधा रहा करता है। अस्तु।

इन उपर्युक्त लक्षणोंसे यह भाव प्रकट हुआ कि ,मनोहर शब्द-रचना, ही साहित्य कहलाती है, किन्तु प्राक्तन समयमें भी रमणीय वाक्य रचनाको काव्य शब्दसे ही कहा है। एवञ्च आधुनिक संसार भी यही कह रहा है कि रमणीयवाक्यविन्यास काव्य है। इसकी साक्षी हमको प्राचीन ग्रन्थोंसे तथा आधुनिक व्यवहार परिपाटीसे मिल जाती है। अलङ्कारचिन्तामणिमें अजितसेन आचार्यने लिखा है कि—

"शब्दार्थालङ्कृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं।
व्यङ्ग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम्॥
लोकद्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थी।
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम्॥"

अर्थात् अनेक अलंकार, गुण, रीति, व्यङ्ग्यादिकसे तथा किसी नेताके वर्णनसे परि-भूषित उभय लोकका कल्याणकारक तथा पुण्य और धर्मका कारणभूत काव्यशास्त्र है। उसको प्रज्ञाशाली कवि निर्माण करे।

वाग्भटालङ्कारमें वाग्भट आचार्यने भी ऐसा ही लिखा है—

" साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥"

अर्थात् गुण अलङ्कारसे सुशोभित, स्पष्ट रीति तथा रसोंसे संयुक्त मनोहर शब्द तथा अर्थकी रचना ही काव्य है। कवि अपने यशोपार्जनके लिये ऐसे काव्यका निर्माण करे।

इन दो उदाहरणोंके अतिरिक्त अनेक शास्त्रीय प्रमाणोंसे ऐसा ही सिद्ध होता है। अतएव यह ज्ञात हो जाता है कि साहित्य शास्त्र काव्यशास्त्रोंसे भिन्न ही है, एक ही शास्त्रके अथवा विषयके दो नाम नहीं है। आजकल भी व्यवहारमें यही दृष्टिगोचर होता है। विद्वान् महाशयोंसे यदि पूछा जाता है कि काव्य ग्रंथ कौनसे हैं तो उनसे उत्तर प्राप्त होता है कि धर्मशर्माभ्युदय, यशस्तिलक, गद्यचिन्तामणि, शिशुपालवध, किरात आदि ग्रन्थ काव्यग्रंथ हैं। तथा उनसे यदि यह प्रश्न किया जाता है कि साहित्यग्रंथ कौनसे हैं? उस समय वे प्रथम ही तो कुछ सकुचाते हैं किंतु तदनतर यही उत्तर देते हैं कि अलंकारचिंतामणि, वाग्भटालंकार, काव्यानुशासन, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश आदि साहित्यग्रंथ हैं। इनके सिवाय साहित्य शब्दसे प्राय आजकल सुंदर शब्दरचनाको भी ग्रहण करते हैं। वह चाहे न्यायविषयक हो अथवा इतिहास आदि विषयक हो। अतएव संस्कृत भाषाके सिवाय अन्य प्रचलित भाषाओंमें साहित्यग्रन्थ अपरिमित हो गये हैं। हम संस्कृत साहित्य पर विचारनेके लिये अपना समय निर्दिष्ट करचुके हैं। अतएव इतर साहित्यका सारासार विचार नहीं करते हैं। अस्तु।

अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है और मूल सारांश भी यही है कि " जिस शास्त्रमें गुण, दोष, रीति, रस, अलंकार आदिके लक्षण स्वरूप बतलाये गये हों वह साहित्यशास्त्र है तथा जो शास्त्र गुण, रीति, रस, अलंकार आदि शाब्दिक सौंदर्यसे निर्मित हुआ है वह काव्यशास्त्र " है।

अर्थात्–साहित्यशास्त्र व्यङ्गय है और काव्यशास्त्र व्यञ्जक है अथवा साहित्य शास्त्र पथप्रदर्शक है तथा काव्यशास्त्र उसका उदाहरण है। सारांश यह है कि साहित्य-शास्त्र तथा काव्यशास्त्रमें भिन्नता अवश्य है। अस्तु। हमको प्रथम ही काव्यशास्त्रके विषयमें विवेचन करना है।

काव्यशास्त्रके मूल दो प्रकार हैं। एक तो श्रव्यकाव्य है और दूसरा दृश्य काव्य है। दृश्यकाव्य वह है जो देखनेसे चमत्कारक होवे जैसे नाटक। अर्थात् नाटक दृष्टिपथ होनेपर ही वास्तविक मनोहरताको उत्पन्न करता है अतएव वह दृश्यकाव्यरूप है। जिस रमणीय वाक्यावलीको सुनते ही मानसिक प्रफुल्लता जन्म लेवे वह श्रव्यकाव्य है उसके तीन भेद हैं। केवल पद्यात्मक, केवल गद्यात्मक तथा गद्यपद्यात्मक। इनमेंसे तृतीय प्रकारका काव्य चम्पू शब्दसे कहा जाता है। अस्तु। प्रथम ही पद्यात्मक जैनकाव्योंका महत्त्व हमको देखना चाहिये।

यद्यपि जैन कवियोंकी अनुपम कृतियां अगणित संख्यामें जन्म ले चुकी थीं किन्तु अनेक विध्वंसक कारणोंसे वे सभी अजर अमर न रह सकीं। जिस समय जैन धर्मका शान्तिप्रद साम्राज्य सम्पूर्ण भारतवर्षमें जमा हुआ था उस समय जैनसाहित्यकी कुसुमितवल्ली भारतवर्षके सर्व प्रदेशोंमें फैल गई थी।

और अपने सौरभशाली चित्तहारी पुष्पोंसे उन सभी प्रदेशोंमें सुरभि-शीतल पवनका संचार कर दिया था। जैन साहित्य उस समय पूर्ण यौवनको पा चुका था और परिपूर्ण उन्नत दशा भी जैन काव्योंकी उसी समय थी। यदि महासभाका अधिवेशन उस समय होता तो जैन काव्योंका वास्तविक पूर्ण महत्त्व उसमें प्रदर्शित कर दिया जाता। किंतु खेद! दातकि समय चले गये न हो सके और चर्नोंके समय दत्पक्ति न रही॥ किंतु कालचक्रानुसार जिस काल जैन साम्राज्य भारतवर्षसे विहार कर चुका जैन प्रासादके आधारभूत उद्भट विद्वत्तासे परिपूर्ण ऋषीश्वर दृश्यमान न रहे। उस समय जैन धर्मके सुंदर उन्नत तरुवरको जड़मूलसे नष्ट करनेके लिये तथा अपना साम्राज्य जमानेके लिये शङ्कराचार्यजीने इस भरतभूमिमें पदार्पण किया। और जैन धर्मको भारतभूमिसे सर्वथा नष्ट करनेके लिये पूर्ण परिश्रम करने लगे। यह कहनेमें कुछ संकोच न होगा कि उन्होंने जैनधर्मके लिये वे वे अनुचित कार्य किये जिनको सुनकर हृदय थर्रा जाता है और कहना पड़ता है कि शङ्कराचार्यके मानवीय शरीरमें मनुष्यता रंचमात्र नहीं थी। अन्यथा जैन शास्त्रोंको जलाकर उसकी अग्निसे पानी उष्ण करके, स्नान करके, भोजन, करनेकी घृणापूर्ण प्रतिज्ञा न करते। सारांश यह है कि शङ्कराचार्यने जैन शास्त्रोंको जहां तक पाया जलाकर उनको भस्म कर दिया अथवा अगाध जलकी तलभूमिमें पहुंचा दिया। औरंगजेब बादशाहने भी यही अमानुषिक कार्य किया। जैन ग्रंथोंको छह मास तक होली की तरह जलाया। उन ग्रन्थोंकी अग्निसे सेनाका भोजन तयार कराया। उन ग्रन्थोंसे भरी हुई अनेक नौकाएं जलमग्न कर दीं। जिससे कि जैन काव्योंका समुदाय प्रचंड दुष्टताके कारण संसारसे विदा ले चुका। किंतु "गंगाका प्रवाह चाहे जैसा क्षीण हो जाय किन्तु गीदड़ उसको पार नहीं कर सक्ते हैं," इस कहावतके अनुसार जैनकाव्यका भग्नावशिष्ट अंश भी अपूर्व तथा असाधारण विद्वत्ता तथा रमणीयतासे परिपूर्ण है कि इतर काव्यग्रन्थोंका मुख कालिमायुक्त कर देता है। अस्तु।

संस्कृत साहित्यकारोंमें महाकवि कालिदासको प्राय सर्वोच्च पद प्रदान किया है। उनकी अनेक कवितायें विद्यमान हैं जो कि प्राय शृङ्गार रससे भीनी हुई हैं। उन सभी काव्य ग्रंथोंमें 'मेघदूत' नामक काव्य सर्वोत्तम है। इस ग्रंथमें एक विरही यक्षका मेघोंके द्वारा अपनी भार्याके लिये संदेश भेजनेका वर्णन किया है जो कि शृङ्गाररससे परिपूर्ण है किंतु कालिदासकी रमणीय सर्वोच्च इस कृतिको तुच्छ कविता सिद्ध करनेवाले जैनकाव्य ही हैं।

कालिदास कवि जिस समय मेघदूत काव्यको लेकर अमोघवर्ष भूपतिके समीप उसकी महत्वशालिनी कविताका पारितोषक लेनेके लिये गये उस समय जिनसेन कवि उस सभामें विद्यमान थे, उन्होंने कालिदासके मानमर्दन करनेके लिये राजासे कहा यह कविता जैन काव्यसे निकाली हुई है। तदनन्तर कालिदासने क्रोधित होकर कहा कि उस काव्यग्रन्थको दिखलाओ तो सही जिसमेंसे यह कविता चुराई गई है तब जिनसेनने राजसभामें कहा कि दूरवर्ती नगरमें वह ग्रन्थ है उसे मैं आठ दिनमें लाकर दिखाता हूं। ऐसी प्रतिज्ञा करके वहांसे चले गये और आठ दिनमें पार्श्वाभ्युदय नामक ग्रन्थ रचकरके सभामें लाकर दिखा दिया जिसके प्रत्येक श्लोकमें तीन पाद तथा दो पाद अपने बनाकर उसमें और मेघदूतका एक तथा दो पाद मिला दिये। महत्व इतना बढ़ा दिया कि मेघदूत जैसे शृङ्गाररसीय ग्रन्थको वैराग्यरसमें परिणत कर दिया जिसके कारण कालिदासको लज्जित होना पड़ा। जिनसेनाचार्य महाकविकी महत्वप्रदर्शिनी कृतिका प्रदर्शन इस ग्रन्थमें सर्वथा असम्भव है फिर भी विद्वानोंको सन्तुष्ट करनेके लिये हम उनकी कविताका एक ही श्लोक देते हैं जिससे साहित्यज्ञ पुरुषोंको ज्ञान हो जायगा कि जिनसेनाचार्य कैसे कवीश्वर थे।

> कार्याश्लिष्टात्स्वपमधिगलात्कारणस्यानुमानं ।
> रूढ येषा नदिर्यमभिमा युक्तस्त्वपेति मन्ये ॥
> इयत्साक्षिप्य यदनुमिमते योषितः प्रोषितानां ।
> नीप दृष्ट्वा हरितकपिशा केशरैरर्धरूढैः ॥

मेघदूतके इक्कीसवें श्लोकको सन्मुख रखकर यदि इस समस्यापूर्तिको देखा जाय तथा इस श्लोकके अर्थगाम्भीर्यको देखा जाय तो कालिदास कवि कवित्वमें जिनसेनाचार्यके शिष्यतुल्य सिद्ध हो जावेंगे। अस्तु। पार्श्वाभ्युदय काव्य तो ऐसी कविताओंसे परिपूर्ण है ही किन्तु विक्रम कविकी समस्यापूर्तिका उदाहरण भी दे देना चाहिये जिसको देखकर यह पूर्णतया ज्ञात हो जायगा कि मेघदूत सरीखे काव्यमय जैनकाव्योंमें साधारण ग्रन्थ है।

> नीत्सायूकैः स्वपुरगमने येयियुक्ता स्वपादम् ।
> छदापेनौ नव न पिनरो तज्जनास्ते प्रयोगी ॥
> मगानास्याज्ज्ञाः कादुपनजो श्रीपत्तोमाऽत्रायामः ।
> संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥

नेमिचरित्रके इस श्लोकको देखकर पठित महोदय कविकी अपार्थिव महत्व-शाली कवित्वका पूर्णतया अनुमान कर लेंगे। कविने एक तो मेघदूतके श्लोकमें ...

इस श्लोकमें कविने राजाका वर्णन इस कौशलके साथ किया है कि श्लोकमें उन्हीं शब्दोंमें महादेवका स्वरूप भी प्रकट हो जाता है। राजाका ऐसा चमत्कारी वर्णन हमको किरातमें तथा माघमें नहीं उपलब्ध होता है जो कि महाकाव्योंमें अवश्य चाहिये। जब कि चन्द्रप्रभचरितमें वैराग्यरसको देखते हैं उस समय इस काव्यके सौन्दर्यको हठात् उत्तम कहना पड़ता है। यह तो केवल प्रथमसर्गमें ही महत्त्व भरा हुआ है किंतु जिस समय द्वितीयसर्ग देखते हैं उस समय कविके अपूर्व पाडित्यका अनुमान हो जाता है। अन्य कवियोंके समान जैन कवि केवल कवि ही न थे किंतु दर्शनिक विद्वत्ता भी उनमें परिपूर्णतया परिपूर्ण थी यह दर्पणवत झलक जाता है। इस सर्गमें चार्वाक, सांख्य आदि मतोंका खडन बड़े लालित्यसे संक्षेपमें कर दिया है। माघ किरात तथा नैषधको देखकर यह अनुमान कहना पड़ेगा कि जैन कवियोंके समान ये कवीश्वर दार्शनिक नहीं थे किंतु केवल कवि ही थे। चन्द्रप्रभ काव्यके तृतीय सर्गमें रानीकी शोकावस्था अपूर्व रम्यतासे वर्णन की है। साथ ही राजाका वर्णन भी बड़े पाडित्यके साथ किया है इसका भी केवल दो श्लोकोंसे दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है—

भेजे मितान्तमजलोऽपि नदीनभाव, यश्चाभवद्वसुमती तिलकोऽप्यशोकः।
दोषाकरश्च न बभूव कलाधरोऽपि, सर्व हि विस्मयकरं महतां स्वरूपम्॥
भानुर्भवेद्यदि मनागिह सौम्यरूप-स्तेजास्थितामुपगतो मृगलाञ्छनो वा।
धामाधिको विदधदेव जनानुराग, तेनोपमानपदवीं प्रभुरन्वहेत॥

यहां पूर्व श्लोकमें विरोधाभास अलङ्कार तथा द्वितीय श्लोकमें उत्प्रेक्षालङ्कार अपूर्व लालित्यसे दिखलाया है। इस काव्यके प्रत्येक वर्णन विषयका महत्त्व बतलानेमें लेखक सर्वथा असमर्थ है। अतएव मुख्य मुख्य विषयोंकी महत्ता ही प्रगट हो सकेगी।

इस काव्यके अष्टम सर्गमें वसन्तऋतुका वर्णन उस वैदुष्य शैलीसे किया है जिसकी छवीको किरात माघ किसी स्थलमें भी नहीं पासके हैं। यमकालङ्कार इस सर्गमें बड़े पाण्डित्यके साथ रक्खा गया है। यद्यपि इसका प्रदर्शन कराना भी आवश्यक था किंतु समयानुसार ऐसा करनेसे रुकना पड़ता है। अस्तु। बारहवें सर्गमें मन्त्रविचार भी अनुपम है तथैव तेरहवें सर्गमें जलयात्राका वर्णन ऐसा अपूर्व, अनुपम किया है जैसा कि किरात तथा माघकाव्यमें कहीं भी नहीं मिलता है। इसके सोलहवें तथा सत्रहवें सर्गमें अनेक प्रकारके अनेक वर्णन संक्षिप्त रूपमें ऐसे असाधारण सौन्दर्यमें रंगकर दिखला दिये हैं जिनका महत्त्व अवर्णनीय रूपमें सुस्थिरित हो जाता है। उनको अवलोकन करनेवाला पुरुष ही उनकी महत्ता ज्ञात कर सका है। अस्तु।

अन्तमें कविने अठारहवें सर्गमें जैन सिद्धांतका संक्षिप्त रूपमें असाधारण रीतिसे वर्णन किया है। इस प्रकार निर्मीयसिद्धान्त कथन- नैषध, माघ आदि किसी काव्यमें विद्यमान नहीं है। इस प्रकार धीरादि कविवरकी उदार कविता साहित्यक अनेक विषयोंमें किरात, माघ आदि अन्य काव्यग्रन्थोंको अनेक स्थलोंपर टक्कर देती है।

अब हम कविसम्राट् हरिचन्द्रकी कविताका संक्षिप्त परिचय देते हैं जिसको देखकर विज्ञमण्डल नैषध आदि उच्चतम काव्यग्रन्थोंसे मिलान करके कह देंगे कि संसार भरके संस्कृत-काव्य ग्रंथ जैन काव्योंसे निम्न श्रेणीमें ही हैं। संस्कृत कवियोंकी प्रशंसा इतर जनतामें इस प्रकार मिलती है—

नैषधे पदलालित्य भारवेरर्थगौरवम्।
उपमाकालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥
नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते।

अर्थात् नैषध काव्यमें लालित्य सब काव्योंसे बढ़कर है, किरातार्जुनीयमें अर्थगुरुता सर्वोत्तम है और कालिदासीय काव्योंमें उपमालंकार सब काव्योंसे बढ़िया विद्यमान है किन्तु माघकाव्यमें तीनों गुण विद्यमान हैं। यदि माघकाव्यको विद्यार्थी नौ सर्ग तक पढ़ले तो उसके लिये संसारमें कोई भी संस्कृत शब्द अपरिचित नहीं रहता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा कहनेवाले महाशयने या तो जैनकाव्योंके सर्वथा दर्शन ही नहीं किये हैं। अथवा 'मिया मिआ न म पहाहरखा' इस कहावतके अनुसार अतिशयोक्ति अलंकारसे अपनी वाणीको सुशोभित कर गये हैं अन्यथा ऐसा कदापि नहीं कह सके थे। अस्तु।

हम कवीश्वर हरिचन्द्र रचित धर्मशर्माभ्युदयसे ही सर्व संस्कृत काव्योंका मिलान करके यथायोग्य जैन तथा अजैन काव्योंको पदवी प्रदान करते हैं।

धर्मशर्माभ्युदय काव्यका यद्यपि प्रत्येक वाक्य अपूर्व लालित्य, अनुपम सौन्दर्य तथा गुण, रस अलङ्कारोंसे अलङ्कृत है जिसको पढ़ने मात्रसे हृदय प्रफुल्लित हो जाता है किन्तु उस सभी कविताको हम किसी तरह पाठकोंके सन्मुख नहीं रख सके हैं किन्तु उदाहरणके लिये हम कुछ पद्योंका प्रदर्शन करायेंगे।

हरिचन्द्र कवि सागरने प्रारम्भमें सज्जन दुर्जनका वर्णन ऐसे उत्तम ढंगसे किया है कि जिसको देखकर चित्त चकित होजाता है। उदाहरणके लिये केवल एक श्लोक ही देते हैं—

गुणानघस्मास्मवतोऽप्यसाधुपद्मस्य यातिनमाति लक्ष्मी'।
दिनावसाने तु मनोज्ञतश्री गज्ञः मत्मामीनिमिमिलिमाया॥

इस श्लोकमें कविने वह वर्णन कर दिया है जो कि अन्यत्र न मिल सकेगा। दुर्जनका स्वभाव बतलाते हुए कमलका दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार कमल अपनी नालीको नीचे रखता है और केवल दिनमें ही सुशोभित अर्थात् विकसित रहता है किंतु चन्द्रोदयके समय वही कमल मुकुलित होजाता है तथैव अन्य पुरुषोंके गुणोंकी अवज्ञा करनेवाला दुर्जन तभी तक प्रसन्न रह सक्ता है जबतक कि उसके शुभदिन हैं किंतु उन दिनोंके व्यतीत हो जानेपर उसका सारा गर्व खर्व होजाता है और राजसभामें म्लानमुख होकर उपरि त होना पड़ता है। अब यहांपर विचार करनेसे इतना फल अवश्य निकल आवेगा कि भारवि कविकी कवितामें यह अर्थ गौरव नहीं मिलता है और कालिदासके काव्योंमें ऐसी उपमा भी प्राय दृष्टिगोचर नहीं होती है तथैव माघकाव्य भी ऐसे शाब्दिक तथा आर्थिक लालित्यसे शून्य ही है।

राजाके प्रतापका वर्णन करते हुए हरिचन्द्रने कहा है—

"निपीतमातङ्गघटाग्रशोणिता हठावगूढा सुरतार्थिभिर्भटैः।
किल प्रतापानलभासदस्त्रासितसमृद्धमस्यासिलतात्मशुद्धये ॥"

अर्थात्–मैथुनकी अभिलाषासे चाण्डाल पुरुषोंने किसी कुलवती स्त्रीका यदि बलपूर्वक आलिङ्गन करके ओष्ठपान कर लिया हो। तब वह कुलाङ्गना अपनी पवित्रताके लिये अग्निमें प्रवेश करती है। यह अर्थ ध्वनिसे इस श्लोकमें निकलता है। प्रकृतार्थ ऐसा है कि 'युद्धमें जिसके खड्गने हाथीसमूहका रक्तपान किया है और देवत्व पद पानेकी इच्छासे शत्रुसैनिकोंने बलपूर्वक जिसकी तलवारका आलिंगन किया है ऐसे खड्गने अपनी शुद्धताके लिये इस महीपतिकी प्रतापरूपी अग्निका आश्रय लिया है।"

ऐसी अनुपम रचना जैन काव्योंमें ही उपलब्ध होती है कि उपमेय पदार्थ उपमानके समान हो जावे तथैव उपमानपदार्थ उपमेय सरीखा भी रग जावे। और उपमा भी अपूर्व कौशलके साथ, पूर्ण उपमा। इसके अतिरिक्त एक खूबीका अनुमान इसी श्लोकसे होता है कि बिन्दुच्युतक, व्यञ्जनच्युतकादिके समान 'अक्षर विपर्यास' भी कोई अलङ्कार है। क्योंकि यहां ध्वनिसे किसी कुलीन नायिकाका चरित्र निकलता है उस समय कर्ता 'असिलता'के स्थानपर 'अउसिता' निकलता है। अस्तु।

किरातका अर्थगौरव और कालिदासकी उपमा तथा माघकाव्यके तीनों गुण यहां भी टकराकर पराभूत हो जाते हैं।

सुव्रता रानीके कुचोदरत्व वर्णनको अनन्य लालित्यसे कहा है—

"सुवृत्तभावेकत उन्नतौ स्तनौ गुरुर्नितम्बोऽप्ययमन्यतः स्थितः।
कथं भजे कान्तिमितीव चिन्तया ततान तन्मध्यमतीव तानवम् ॥"

इस श्लोकमें कविके उत्प्रेक्षा तथा हेतु अलंकारको देखकर और—

अनादरेणापि सुधासहोदरामुदीरयन्त्यामविकारिणीं गिरम् ।
ह्रियेव काष्ठत्वमियाय वल्लकी पिकी च कृष्णत्वमधार्ग्यसतराम् ॥

इस श्लोकमें कविके पदलालित्यके साथ साथ अनुपम सौन्दर्य सहचारी उत्प्रेक्षापर ज्ञानचक्षु लगानेपर कालिदास, श्रीहर्ष, माघ आदि कवियोंकी कृतियोंपर पानी आता है।

भगवानका स्तवन किस विलक्षण उल्लासदायिनी शैलीसे किया है कि हृदय तामें मग्न होजाता है। दृष्टान्तके लिये केवल एक श्लोक ही बहुत है—

" युष्मत्पदप्रयोगेण पुरुषः स्याद्युत्तमः ।
अर्थोऽयं सर्वथा नाथ ! लक्षणस्याप्यगोचरः ॥ "

ऐसा महत्त्वशाली श्लोक हमको नैषध, माघ आदिमें कहीं भी उपलब्ध नहीं ा है। विशेष प्रशसा क्या की जाय।

न्यायके एक कठिन अनुमानोंको भी कविने किस सरलताके साथ पद्यमें रक्खा है जिससे ज्ञात होजाता है कि कवीश्वर नैयायिकेश्वर भी थे, केवल कविराज ही न दृष्टा त यही है—

" जीवः स्वसंवेद्य इहात्मदेहे सुखादिवद्बाधकविप्रयोगात् ।
काये परस्यापि स बुद्धिपूर्वव्यापारदृष्टेः स्व इवानुमेयः ॥ "

नैषध, माघको प्रारम्भसे अन्ततक देखनेपर ऐसी दर्शनिक कविता न मिल सकेगी।

रामपरिषद्में उतरती हुई देवाङ्गनाओंका किस अपूर्व पाण्डित्यसे कैसा ललित न किया है इसकी उपमाके लिये हमको माघ, नैषध आदि किसी भी काव्यमें दृष्टांत हीं मिलता है। आकाशसे उतरने वाले पुरुषका रूप किस २ हालतमें कैसा कैसा होगा ह स्पष्ट चित्र धर्मशर्माभ्युदय काव्यमें ही मिल सकेगा। माघकाव्यमें ऐसा वर्णन केवल धारण दो पद्योंमें किया है जिससे कि इस विषयमें चन्द्रप्रभचरितको भी माघकाव्यसे च्च स्थान देना पड़ेगा। अब विज्ञपाठक समझ जायगे कि 'माघे सन्ति त्रयो गुण, अथवा में सन्ति त्रयो गुणा। दृष्टांतके लिये केवल एक श्लोक देते हैं—

"स्वानुभावधृतिभूरिमूर्तिना पद्मरागमणिनूपुरच्छलात् ।
भानुना क्षणमिह प्रतीक्ष्यतामित्युपास्तचरणाः स मन्मथम् ॥"

सप्तमसर्गमें देवोंका जिन भगवानको सुमेरु पर्वतपर अभिषेकके लिये ले जाने समय यात्राका वर्णन बड़ी सुन्दरतासे किया है, माघकाव्य इस महत्त्वसे भी वञ्चित है। अष्टमसर्गमें जिनेन्द्रदेवका इन्द्रद्वारा किया हुआ स्तवन उस पाण्डित्यके साथ लिखा है

जिसको देखकरके माघकाव्यकी दृष्टि भूमिकी ओर झुक जाती है तथा नैषध पश्चात् बंद हो जाता है। दृष्टांतके लिये केवल दो श्लोक देते हैं—

अखिलमलिनपक्षं पूर्वपक्षे निधाय
प्रथममुदितमात्रस्यापि संपूर्णमूर्तेः।
जिनवर तव कान्त्या यत्कलामात्रशेषः
प्रतिपदमृतभानुः स्पर्द्धते तन्मुधैव॥
अमितगुणगणानां त्वद्गतानां प्रमाणं
भवति समधिगन्तुं यस्य कस्यापि वाञ्छा।
प्रथममपि स तावद्व्योम्न कत्यङ्गुलानी-
त्यवधि सुगमसंख्याभ्यासमङ्गीकरोतु॥

इस अनुपम विद्वत्ताका स्तवन धर्मशर्माभ्युदयके अतिरिक्त हमारा प्रयत्न करने पर भी अन्यत्र न मिल सकेगा।

जिस समय दशवा सर्ग इस काव्यका दृष्टिगोचर होता है उस समय हरिचंद्र कवि अपूर्व विद्वान् कवि थे यह स्वतः मुखसे निकल पड़ता है। इस सर्गमें कविने पर्वतका वर्णन किया है जो कि अर्थालंकार सहित शब्दालंकारसे परिपूर्ण है। दृष्टांतके लिये कुछ पद्योंका अवलोकन कराते हैं—

"स्रष्टा दधात्येष महानदीनां महानदीनां शिखरोन्नतिं यः।
स्वर्गादिहागत्य सदानभोगैः सदा नभोगैरनुगम्यमानाम्॥"

इस श्लोकमें मध्ययमकालंकार बड़े लालित्यके साथ दिया है। और भी दो तीन उदाहरण उपस्थित करते हैं जो कि हरिचंद्रके कवित्वसाम्राज्यको सिद्ध कर देंगे—

"नरो धनी यो मदनायको भवेन्न बोधनीयो मदनाय को भवे।
स सुभ्रुवामत्र तु नेत्रविभ्रमैर्विबोध्यते सातिलकोऽपि कानने॥"

इस पद्यमें यद्यपि आदि मध्यगोचर यमकालंकार दिया है किन्तु अर्थालङ्कार भी अपूर्व सौंदर्यके साथ रख दिया है। ध्वनि भी चित्तरोचक निकलती है, अर्थ भी मनोहारी है कि "जो नवीन धनिक होता है वही मदमत्त होता है। इस संसारमें कामवासनाके विषयमें किसको समझाना चाहिये? अर्थात् किसीको भी नहीं। क्योंकि वनमें रहनेवाला तिलकवृक्ष भी स्त्रियोंके कटाक्षोंसे ही कुसुमित होता है। ऐसा अर्थलालित्य तथा पदलालित्य प्रयत्न करनेपर भी अन्यत्र नहीं मिल सकेगा॥

"वनेऽत्र पाकोल्वणदाडिमीफलप्रकाशमाकाशमणिं नवोदितम्।
जिघृक्षवोऽमी निपतन्ति वानरा अनूरुदण्डाग्रनिवारिता अपि॥"

इस पद्यमें स्वाभाविक क्रिया बड़ी सुन्दरतासे प्रकट की है। "प्रातःकालीन बाल-अनार समझकर बन्दर उसे लेनेके लिये उछलते हैं किन्तु अनूरु (सूर्यके रथका)के चाबुक ताड़नासे गिर पड़ते हैं, परन्तु फिर भी सूर्यको पकड़नेके लिये उछलते हैं" यह तो इस श्लोकका अर्थ हुआ। अब प्राकृतिक विषय देखिये। प्रभात समय होते ही सूर्योदयके अनन्तर बन्दर वृक्षोंपर स्वभावसे ही उछला करते हैं। यह विषय ही कविने कैसी विचित्र उत्प्रेक्षाके साथ दिखलाया है। इसके अतिरिक्त ध्वनिसे यह भी प्रकट कर दिया है कि लोभी पुरुष पर चाहे कितनी भी ताड़ना की जाय किंतु वह अपनी लोभ प्रकृति नहीं छोड़ता है। ऐसी अनुपम उत्प्रेक्षा ऐसा असाधारण अर्थ-गाम्भीर्य तथैव ऐसा मनोहर सौन्दर्य श्रीहर्ष, माघ, भारवि, कालिदास कविके किसी काव्यग्रन्थमें नहीं मिलता है॥ अस्तु॥

दूरेण दावानलशङ्कया मृगास्त्यजन्ति शोणोपलसंचयद्युती॥
इहोच्छलच्छोणितनिर्झराशया लिहन्ति च प्रीतिजुषः क्षणं शिवाः॥

इस पद्यमें पर्वतीय गेरिक पत्थरका कैसे आश्चर्यकारी सुंदर ढंगसे वर्णन किया है। लिखते हैं कि "हरिण गेरिक धातुकी लालकांतिको दूरसे देखकर दावाग्निकी शंका से उनका समीपता छोड़ देते हैं और गीदड़ रक्तका निर्झरना समझकर उसको बड़े प्रेमसे चाटते हैं"। यदि किसी पदार्थका वर्णन करना हो तो इस खूबीके साथ करना चाहिये। इस विषयका उपदेश अन्य कवियोंको हरिचन्द्रने इस पद्यसे दिया है। गेरिक धातुको देखकर हरिणोंको अग्निकी शंका तथा गीदड़ोंको लोहूकी हो जाती है। यही यथार्थ काव्य रचनाकी शैली है, भ्रान्तिमान अलङ्कारका ऐसा सुंदर उदाहरण इतर काव्योंमें उपलब्ध नहीं होता है।

"कृतार्थकृतार्थाहित स्वा हितरागसदा न सदा नन्दिन यादिन या।
विभालविभाल सुधर्मा सुधर्मापितयापितख्याति सा नौति सना"

यमकालङ्कारका ऐसा सुंदर प्रफुल्लताकारी दृष्टांत अन्य काव्योंमें उपलब्ध न हो सकेगा। ऐसे दृष्टांत केवल जैन काव्योंमें ही मिलेंगे। अब पाठक महाशय स्वयं समझ जायगे कि क्यों गुणा इस काव्यमें है या माघमें है। यद्यपि माघ काव्यका चतुर्थ सर्ग भी पर्वतके वर्णनसे रंगा हुआ है और उसमें भी शब्दालंकार और अर्थालंकार भर दिये हैं, किंतु धर्मशर्माभ्युदयके दशवें सर्गके सामने वह बहुत ही तुच्छ वर्णन है। इस सरीखी सौंदर्य छटाका वहां दर्शन नहीं होता है। नैषध भी इस वर्णन सौंदर्यसे रिक्त है। अस्तु।

नैषध-काव्यको सब काव्योंमें उच्च स्थान देनेका यह हेतु दिया गया है कि "इसका पदलालित्य सबसे उत्तम है, श्लेषालंकारकी अधिकता है।

जिसको देखकरके माघकाव्यकी दृष्टि भूमिकी ओर झुक जाती है तथा नैषध पश्चात् पैर हो जाता है। दृष्टांतके लिये केवल दो श्लोक देते हैं—

अचिरमलिनपक्षं पूर्वपक्षे निधाय
प्रथममुदितमात्रस्यापि संपूर्णमूर्तेः।
जिनवर तव कान्त्या यत्कलामात्रशेषः
प्रतिपदमृतभानुः स्पर्द्धते तन्मुधैव ॥
अमितगुणगणानां त्वद्गतानां प्रमाणं
भवति समधिगन्तुं यस्य कस्यापि वाञ्छा।
प्रथममपि स ताराश्रव्योम कल्पद्रुलानी
त्वनथ! सुगमसंख्याभ्यासमङ्गीकरोतु ॥

इस अनुपम विद्वत्ताका स्तवन धर्मशर्माभ्युदयके अतिरिक्त हजारों प्रयत्न करने पर भी अन्यत्र न मिल सकेगा।

जिस समय दशवां सर्ग इस काव्यका दृष्टिगोचर होता है उस समय हरिचंद्र कवि अपूर्व विद्वान् कवि थे यह स्वतः मुखसे निकल पड़ता है। इस सर्गमें कविने पर्वतका वर्णन किया है जो कि अर्थालंकार सहित शब्दालंकारसे परिपूर्ण है। दृष्टांतके लिये कुछ पद्योंका अवलोकन कराते हैं—

"स्रष्टा दधात्येव महानदीनां महानदीनां शिखरोन्नतिं यः।
स्वर्गादिहागत्य सदानभोगैः सदा नभोगैरनुगम्यमानाम् ॥"

इस श्लोकमें मध्ययमकालंकार बड़े लालित्यके साथ दिया है। और भी दो तीन उदाहरण उपस्थित करते हैं जो कि हरिचंद्रके कविसाम्राज्यको सिद्ध कर देंगे—

"नवो धनी यो मदनायको भवेन्न बोधनीयो मदनायको भवे।
स मुह्यतामत्र तु नेत्रविभ्रमैर्वियोऽधत्ते सतिलकोऽपि कानने ॥"

इस पद्यमें यद्यपि आदि मध्यगोचर यमकालङ्कार दिया है किन्तु अर्थालङ्कार भी अपूर्व सी दयके साथ रख दिया है। ध्वनि भी चित्तरोचक निकलती है, अर्थ भी मनोहारी है कि "जो नवीन धनिक होता है वही मदमत्त होता है। इस संसारमें कामवासनाके विषयमें किसको समझाना चाहिये? अर्थात् किसीको भी नहीं। क्योंकि वनमें रहनेवाला तिलकवृक्ष भी स्त्रियोंके कटाक्षसे ही कुसुमित होता है"। ऐसा अर्थलालित्य तथा पदलालित्य प्रयत्न करनेपर भी अन्यत्र नहीं मिल सकेगा ॥

"वनेऽत्र पाकोल्वणदाडिमीफलप्रकाशमाकाशमणिं नवोदितम्।
जिघृक्षवोऽमी निपतन्ति वानरा अनूरुदण्डाग्रनिवारिता अपि ॥"

दृष्टान्तके लिये दो पद्य देते हैं—

विषयासङ्गदोषोऽयं त्वयैव विपर्यीकृतः।
साम्प्रतं वा विषमक्ष्ये मुञ्चात्मन् विषये स्पृहाम् ॥
किं नु कर्तुं त्वयारब्धं किं वा क्रियतेऽधुना ।
आत्मन्नारब्धमुत्सृज्य हन्त बाह्येन मुह्यसि ॥

इन दो श्लोकोंका कैसा मनोहर भाव है । आत्मसंबोधन किस उत्तम रीतिसे किया है । इस ग्रन्थका प्रत्येक पद चित्ताकर्षक, तथा रमणीय है जिससे कहना पड़ेगा कि अजैन काव्योंमें ऐसा भाव कहीं भी नहीं मिलता है । मानसिक प्रेरणासे एक पद्य और भी दिखलाते हैं —

जीवानां पापवैचित्रीं श्रुतवन्तः श्रुतौ पुरा ।
पश्ययुरधुनेतीव श्रीकल्पाभूदकिञ्चना ॥

विजया रानीकी दरिद्रता पूर्ण दशाको देखकर नगरवासी जनोंकी उपर्युक्त उक्ति कैसी मनोहर है ? । सुनते ही संतप्त चित्त शीतल हो जाता है । अस्तु ।

धनञ्जय कवि विरचित एक द्विसन्धान नामक काव्य है । कहना पड़ेगा जैन काव्योंके सिवाय ऐसा काव्य ग्रन्थ कहीं भी नहीं है । कविका अपूर्व पाण्डित्यका यह अनुपम उदाहरण है । इस ग्रन्थमें रामायणको तथा महाभारतको पूर्ण किया है । प्रत्येक श्लोकके दो २ अर्थ निकलते हैं । एक अर्थमें रामायण और दूसरे अर्थमें महाभारत निकलता है । प्रकरण भी बराबर मिलता चला गया है । इस प्रकार एक ही ग्रन्थमें दोनों कथायें समाप्त कर दी हैं । उदाहरणके लिये भूमिकाका एक श्लोक देते हैं—

कवेरपार्थामधुरा न भारती कथेव कर्णान्तमुपैति भारती ।
तनोति सालङ्कृतिलक्ष्मणान्विता सतां मुदं दाशरथेर्यथा तनुः ॥

इस श्लोकके तीन अर्थ निकलते हैं । एक अर्थ कविकी कविताका आलोचनारूप है । दूसरा रामायणके पक्षका है । तृतीय अर्थ महाभारतके पक्षका है केवल इसी पद्यको देखकर कविकी अपूर्व विद्वत्ताका पता लग जाता है । अस्तु । समयकी सङ्कुचतासे विशेष परिचय देनेमें असमर्थ है । सार यही है कि इस ग्रन्थ सरीखा अजैन ग्रन्थ कोई भी नहीं है । इसके अतिरिक्त अलौकिक विद्वत्ताके प्रदर्शक चतुःसन्धान, सप्तसन्धान, चतुर्विंशतिसन्धान- ये तीन जैनकाव्य भी विद्यमान हैं । जिनके क्रमसे चार, सात तथा चौबीस अर्थ प्रत्येक श्लोकसे निकलते हैं । ये ग्रन्थ सटीक विद्यमान हैं । पांच छह अर्थ समझने पर ही विद्वानोंका मस्तक थक जाता है आगे नहीं चल सक्ते हैं । ऐसे ग्रन्थ अन्यत्री मतके पर भगवान् किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सक्ते हैं । अस्तु ।

अब हम जैन चम्पू ग्रन्थोंका महत्व प्रदर्शन करते हैं। पूर्वोक्त हरिचंद्र कवीश्वर रचित जीवन्धरचम्पू नामक एक अनुपम सौन्दर्यशाली चम्पूग्रंथ है। इस काव्यका गद्य जिस प्रकार मनोहारी है तथैव पद्य रचना भी महाहृदयरोचक है। जिस प्रकार शब्दालंकारसे इसका शरीर परिपुष्ट है तथैव रमणीय अर्थालङ्कारोंसे भी यह अनन्य कान्तिशाली है। इसकी सुंदरता बतलानेके लिये हम दो एक दृष्टांत देते हैं। जीवन्धरचम्पूके प्रथमसर्गमें सत्यन्धर नृपतिका वर्णन करते हुए शत्रुराजाओंकी स्त्रियोंकी दुरवस्था प्रदर्शक एक गद्य अत्युत्तम है।

"इति शत्रुविरोधिनामरण्यमपि न शरण्यम्" यह वाक्य उस गद्यका अंतिम वाक्य है। इस गद्यमें वनमें इधरउधर भागनेवाली शत्रुरानियोंकी दुर्दशा भ्रांतिमान अलङ्कारके साथ साथ असाधारण पाण्डित्य तथा कवित्वसे परिपूर्ण प्रदर्शित की है। कहना पड़ेगा कि ऐसा उत्तम, हृदयरोचक गद्य अन्यचम्पू ग्रंथोंमें तथा गद्य ग्रंथोंमें उपलब्ध नहीं हो सकेगा॥ विजयारानीका शारीरिक सौन्दर्य निम्नलिखित पद्यमें किस उत्तम रीतिसे किया है—

अस्याः पादयुगं गलश्च वदनं किंचाञ्जसाम्यं दधौ।
"कान्तिः पाणियुगं दृशौ च विदधुः पद्माधिकोल्लासताम्।
वेणी मन्दगतिः कुचौ च धत हा सन्नागसंकाशताम्।
स्वीचक्रुः सुदृशोऽङ्गसौष्ठवकला दूरे गिरा राजते॥"

श्लेषमूल उपमालङ्कारका ऐसा मनोहर यह दृश्य है कि अजैनकाव्य इस ढंगसे शून्य पड़े हुए हैं। वैसे तो इस चम्पूका प्रत्येक वाक्य विचित्र सौन्दर्यशाली है किंतु दृष्टान्तके लिये दो पद्य और भी देता हूं—

मदीयहृदयाभिधं मदनकाण्डकाण्डोत्पतन्
नव कुसुमकन्दुकं घनतटे त्वया चोरितम्॥
विमोहकलितोत्पल रुचिररागसत्पल्लव।
तदद्य हि वितीर्यतां विजितकामरूपोज्वलः।

यह सुरमञ्जरीने जीवन्धर कुमारके समीपमें पत्र भेजा था जिसके उत्तरमें जीवन्धरका यह उत्तर है—

मम नयनमराली प्राप्य ते वक्त्रपद्मं।
तदनु च कुचकोशप्रान्तमागत्य दृष्टा॥
विहरति रसपूर्णे नाभिकासारमध्ये।
यदि भवति वितीर्णा सा त्वया ते ददामि॥

दृष्टान्तके लिये दो पद्य देते हैं—

विषयासक्तदोषोऽयं त्वयैव विषयीकृतः ।
साम्प्रतं वा विषयभ्रम्ये मुञ्चात्मन् विषये स्पृहाम् ॥
किं नु कर्तुं त्वयारब्धं किं वा क्रियतेऽधुना ।
आत्मन्नारब्धमुत्सृज्य हन्त बाह्येन मुह्यसि ॥

इन दो श्लोकोंका कैसा मनोहर भाव है । आत्मसंबोधन किस उत्तम रीतिसे किया है । इस ग्रंथका प्रत्येक पद चित्ताकर्षक, तथा रमणीय है जिससे कहना पड़ेगा कि अजैन काव्योंमें ऐसा भाव कहीं भी नहीं मिलता है । मानसिक प्रेरणासे एक पद्य और भी दिखलाते हैं —

जीवानां पापवैचित्र्यं श्रुतवन्तः श्रुतौ पुरा ।
पश्ययुरधुनेतीव श्रीकरपाभूदकिंचना ॥

विजया रानीकी दरिद्रता पूर्ण दशाको देखकर नगरवासी जनोंकी उपर्युक्त उक्ति कैसी मनोहर है ? । सुनते ही सहसा चित्त शीतल हो जाता है । अस्तु ।

धनंजय कवि विरचित एक द्विसंधान नामक काव्य है । कहना पड़ेगा जैन काव्योंके सिवाय ऐसा काव्य ग्रंथ कहीं भी नहीं है । कविका अपूर्व पाण्डित्यका यह अनुपम उदाहरण है । इस ग्रंथमें रामायणको तथा महाभारतको पूर्ण किया है । प्रत्येक श्लोकके दो २ अर्थ निकलते हैं । एक अर्थमें रामायण और दूसरे अर्थमें महाभारत निकलता है । प्रकरण भी बराबर मिलता चला गया है । इस प्रकार एक ही ग्रंथमें दोनों कथाएं समाप्त कर दी हैं । उदाहरणके लिये भूमिकाका एक श्लोक देते हैं—

कवेरपार्थमधुरा न भारती कथेव कर्णान्तमुपैति भारती ।
तनोति सालङ्कृतिलक्ष्मणान्विता सतां मुदं दाशरथेर्यथा तनुः ।

इस श्लोकके तीन अर्थ निकलते हैं । एक अर्थ कविकी कविताका आलोचनारूप है । दूसरा रामायणके पक्षका है । तृतीय अर्थ महाभारतके पक्षका है केवल इसी पद्यको देखकर कविकी अपूर्व विद्वत्ताका पता लग जाता है । अस्तु । समयकी संकुचतासे विशेष परिचय देनेमें असमर्थ हैं । सार यही है कि इस ग्रंथ सरीखा अजैन ग्रंथ कोई भी नहीं है । इसके अतिरिक्त अलौकिक विद्वत्ताके प्रदर्शक चतुःसंधान, सप्तसंधान, चतुर्विंशतिसंधान ये तीन जैनकाव्य भी विद्यमान हैं । जिनके क्रमसे चार, सात तथा चौबीस अर्थ प्रत्येक श्लोकसे निकलते हैं । ये ग्रन्थ सटीक विद्यमान हैं । पांच छह अर्थ समझने पर ही विद्वानोंका मस्तक थक जाता है आगे नहीं चल सक्ते हैं । ऐसे ग्रंथ जैनी मंडल पर अन्यत्र किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सके हैं । अस्तु ।

अब हम जैन चम्पू ग्रन्थोंका महत्व प्रदर्शन करते हैं। पूर्वोक्त हरिचंद्र कवीश्वर रचित जीवन्धरचंपू नामक एक अनुपम सौन्दर्यशाली चम्पूग्रथ है। इस काव्यका गद्य जिस प्रकार मनोहारी है तथैव पद्य रचना भी महाहृदयरोचक है। जिस प्रकार शब्दालंकारसे इसका शरीर परिपुष्ट है तथैव रमणीय अर्थालंकारोंसे भी यह अनन्य कान्तिशाली है। इसकी सुंदरता बतलानेके लिये हम दो एक दृष्टांत देते हैं। जीवन्धरचम्पूके प्रथमसर्गमें सत्यन्धर नृपतिका वर्णन करते हुए शत्रुराजाओंकी स्त्रियोंकी दुरवस्था प्रदर्शक एक गद्य अत्युत्तम है।

"इति राजविरोधिनामरण्यमपि न शरण्यम्" यह वाक्य उस गद्यका अंतिम वाक्य है। इस गद्यमें वनमें इधरउधर भागनेवाली शत्रुरानियोंकी दुर्दशा भ्रांतिमान अलङ्कारके साथ साथ असाधारण पाण्डित्य तथा कवित्वसे परिपूर्ण प्रदर्शित की है। कहना पडेगा कि ऐसा उत्तम, हृदयरोचक गद्य अन्यचम्पू ग्रथोंमें तथा गद्य ग्रथोंमें उपलब्ध नहीं हो सकेगा॥ विजयारानीका शारीरिक सौन्दर्य निम्नलिखित पद्यमें किस उत्तम रीतिसे किया है–

अस्याः पादयुगं गलश्च वदनं किञ्चाब्जसाम्यं दधौ।
"कान्तिः पाणियुगं दृशौ च विदधुः पद्माधिकोल्लासताम्।
वेणी मन्दगतिः कुचौ च यत हा सन्नागसंकाशताम्।
स्वीचक्रुः सुदृशोऽङ्गसौष्ठवकला दूरे गिरां राजते॥"

श्लेषमूल उपमालङ्कारका ऐसा मनोहर यह दृश्य है कि अजैनकाव्य इस ढगसे शून्य पड़े हुए हैं। वैसे तो इस चम्पूका प्रत्येक वाक्य विचित्र सौन्दर्यशाली है किंतु दृष्टान्तके लिये दो पद्य और भी देता हूं–

मदीयहृदयाभिधं मदनकाण्डकाण्डोद्यत
नवं कुसुमकन्दुकं वनतटे त्वया चोरितम्॥
विमोहकलितोत्पल रुचिररागसत्पल्लव।
तदद्य हि वितीर्यतां विजितकामरूपोज्वलः।

यह सुरमञ्जरीने जीवन्धर कुमारके समीपमें पत्र भेजा था जिसके उत्तरमें जीवन्धरका यह उत्तर है–

ममनयनमराली प्राप्य ते वक्त्रपद्मं।
तदनु च कुचकोशप्रान्तमागत्य दृष्टा॥
विहरति रसपूर्णं नाभिकामारमध्ये।
यदि भवति वितीर्णा सा त्वया ते ददामि॥

नायक, नायिकाके हृदयरोचक अनुपम सौंदर्य परिपूर्ण ऐसे पत्र, तथा उत्तर अन्य काव्योंमें नहीं मिलते हैं। इस चम्पूकी विशेष प्रशंसा व्यर्थ होगी। इस ग्रंथमें सर्व श्रेष्ठ महत्त्व इस प्रकार है कि अजैन गद्य ग्रन्थोंमें 'वासवदत्ता, नामक एक ग्रंथ है, इसको गद्यशिरोमणि पदवी मिली है। इस ग्रंथमें कविने जीवन्धरचम्पूका अनेक स्थलोंका गद्य हूबहू उठाकर अपने ग्रंथमें रख लिया है। अजैन गद्य काव्योंका शिरोमणि ग्रन्थ जिस ग्रंथके अपहृत अंशसे शिरोमणि, पद पा चुका है तब पाठक महाशय स्वयं बतलावें इस जीवन्धर चम्पूको कौनसा पद प्रदान किया जाय ?। अस्तु।

सोमदेवसूरि विरचित यशस्तिलक चम्पू तो संसार भरमें एक ही ग्रन्थ है। इसके महत्त्वको किसी भी अजैन काव्यने नहीं पाया है। इसकी कौनसे गद्यका तथा किस पद्यका उदाहरण पाठकोंको दृष्टिपथ करावें, सम्पूर्ण ग्रन्थ ही संस्कृत काव्योंके लिये अनुपम नमूना है। सभी रस, सभी अलंकार तथा सभी गुण और सभी रीतियां, पाक प्रबंध महाकाव्योंके वर्णनीय सभी विषय इस चम्पूमें सुन्दर शैलीसे वर्णित हैं। अधिक प्रशंसा वृथा बकवादमें परिगणित हो जायगी एतएव इतना ही बहुत होगा कि इसकी शानका महत्वशाली ग्रन्थ अजैन काव्योंमें कोई भी नहीं है। इन्हीं कवि सम्राट्ने 'नीति वाक्यामृत, नामक नीतिग्रंथ बनाया है जिसके समान नीतिका अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। यशस्तिलक चम्पूके सदृश एक ' पुरुदेवचम्पू, भी है यह भी अनुपम ग्रंथ है। अस्तु।

गद्य ग्रन्थोंका शिरोमणि ' गद्य चिन्तामणि" नामक जैनकाव्य है। इसके रचयिता वादीभसिंह आचार्य हैं। यह कहनेमें कोई संकोच न होगा कि कादम्बरीका गद्य इस काव्यके ग्रन्थसे अनेक स्थलोंमें टकराता है। रचनाशैली अनुपम लालित्यसे परिपूर्ण है। जैनकाव्योंमें सबसे महत्वका विषय है यह है कि प्रथम शृङ्गार, वीर आदि रसोंका पूर्ण सुन्दर चित्र खींचकर संसारका सौन्दर्य बतलाते हैं किन्तु अन्तिम भागमें वास्तविक सुखशान्तिदायक वैराग्य रसका प्रवाह बहा देते हैं। आत्मीय भावोंका वह सुन्दर वर्णन करते हैं कि पढ़ने वाला मनुष्य पुण्य पापको समझकर अपने जीवनपर उत्तम असर डाल लेता है। वास्तवमें काव्य रचनाका उद्देश भी यही है। कवियोंने काव्यके लक्षणोंमें यहां तक लिखा है कि " चतुर्वर्गफलप्राप्तिः काव्यादेव प्रवर्तते ", किंतु अजैनकाव्योंसे मनुष्यको धर्म तथा मोक्षवर्ग तो मिल ही नहीं सकता है। उनके लिये "कामवर्गफलप्राप्तिः काव्यादेव प्रवर्तते " यह लक्षण बनाना पड़ेगा। श्रीहर्ष, माघ, भारवि आदि उद्भट कवियोंने पारमार्थिक विषय अपनी कवितामें कहीं नहीं रक्खा है। जिन कालिदास कविके कवित्वपर अजैन जनता अभिमान रखती है उनके बनाये हुए ग्रन्थ प्रायः शृंगार रसमें डूबे हुए हैं। अतएव इतने अश्लील हो गये हैं कि पढ़ने योग्य नहीं हैं। अल्पवयस्क बालकोंको तो

श्रुतबोध, मेघदूत आदि कालीदासीय काव्यग्रन्थ दिखाने भी नहीं चाहिये। ऐसी समालोचना सरस्वती सरीखे पत्रमें प्रकाशित हो चुकी है। अस्तु।

जैन पुराण ग्रंथोंकी रचना अनुपम सौन्दर्यशाली है, इन पुराणोंमें अनेन पुराणोंके समान अ काश पातालके कुलावे मिलाकर असंभव वर्णन नहीं किया है किंतु यथार्थ, परम उपयोगी सिद्धात, इतिहास, गान आदि कलाएं अच्छे ढगसे बतलाई है। दृष्टांत देनेमें समय सकोचके अनुसार असमर्थ हैं। अस्तु। अंतमें जैन साहित्यके गौरवशाली दो तीन पद्य देता हू। ये श्लोक जिनेन्द्रभूषण भट्टारकने काशीमें अनेन विद्वानोंके सन्मुख कहे थे, किंतु दो मासमें भी किसी विद्वानसे इनका अर्थ नहीं लगा था।

"ताता ताती ततेतां ततति ततो तता साति ताती ततत्ता।
तात्ताती ता तताती तततितितिता तत्ततत्ते तितति॥
ताताताँतः निताती ततत्तु तातितता तातितातू तितत्तें।
तातेतित्तो तुताता ततुतति त्त्ततितांततुतोक्त॥"

इन दो श्लोकोंका अर्थ अभीतक किसी भी विद्वान्से नहीं लगा है, ढाईसौ रुपये पारतोषिक रक्खा था अतएव अनेक महामहोपध्याय तथा साहित्याचार्योंने शिरसे पैर तक पसीना भी बहाया किन्तु सभी निष्फल हुआ। इन दोनों श्लोकोंका अर्थ जैन सिद्धान्तभवन आरामें लिखा हुआ विद्यमान है।

चित्राल्कारका एक और भी पद्य विद्यमान है—
काग्वगोघटचच्छो जो झञटठडढणतु।
थाद धन्य पफ बभा मा या रालाव शषस।

इस श्लोकका अर्थ भी किसी विद्वान्से नहीं हो सका है। यह जैन कवितामें ही महत्व है कि जिसका गूढ अर्थ बड़े बड़े साहित्यज्ञ विद्वान् वर्षों तक पूर्ण प्रयत्न करने पर भी नहीं लगा सके हैं।

स्वामी समन्तभद्राचार्यकी जिस प्रकार न्यायविषयक रचना असाधारण है तथैव कविता में उनकी असाधारण पाण्डित्यपूर्ण वैसे तो स्वयम्भूस्तोत्र आदि प्रौढ कविता विद्यमान हैं किन्तु एक जिनशतक नामक काव्य है जिसमें चित्राळकार तथा यमकालकार ही अलकृत है। अस्तु।

जैन काव्योंका अन्य काव्योंमे बहुत अधिक महत्त्व है। इसका पूर्ण यथार्थ प्रदर्शन करानेके लिये सर्वथा असमर्थ हैं। यह समालोचना तो मुद्रित हुए इनेगिने काव्य ग्रंथोंकी है। जैन ग्रंथभडारमें विद्यमान अप्रकाशित ग्रंथ कैसे महत्वशाली हैं इसको सर्वज्ञके

सिवाय अन्य व्यक्ति क्या समझ सक्ता है ? । इसके अतिरिक्त दुष्टों द्वारा नष्ट हुए काव्य किस सुन्दरतासे सुन्दर थे यह भी हम नहीं जानसके हैं । किन्तु अवशिष्ट अल्प संख्या शाली ग्रंथ अनुपम तथा असाधारण हैं । इसका यथाशक्ति दिग्दर्शन करा दिया है जिससे अजैन विद्वानोंका तथा जैन विज्ञोंका भी मानसिक श्रम निकल जावे । अस्तु ।

जैनकाव्यके अमृतमयी अपारवारापारकी तीर-भूमिको लेखनी शक्तिभर प्रयत्न करनेपर भी न पा सकी । अतएव आनंददायिनी तरङ्गधारामें ही लीन होगई ।

अजितकुमार शास्त्री ।

